चारिका

[बुद्ध की आध्यात्मिक यात्रा]

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी

प्रकाशक—रविशङ्कर दीक्षित
राष्ट्रीय प्रकाशन मन्दिर
अमीनाबाद, लखनऊ

प्रथम संस्करण—११००
अक्टूबर, सन् १९५८
मूल्य २ रु० ५० न० पै०

मुद्रक—प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, गोलागंज, लखनऊ

भारतीय संस्कृति के दृढ़ प्रहरी

आदरणीय

डॉ० सम्पूर्णानन्द जी

को

विनम्र भेंट

आमुख

तथागत की शरण में जो भी आते थे उन्हें वे एक ही उपदेश देते थे—'दुःख के क्षय के लिए ब्रह्मचर्य्य का पालन करो।'—इस एक ही उपदेश में उनके जीवन का सम्पूर्ण सन्देश आ जाता है।

बुद्ध के सन्देशों को हृदयङ्गम करते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि उनके शब्द रूढ़ प्रचलित अर्थों से भिन्न एक अन्तर्निगूढ़ अर्थ-व्यञ्जना करते हैं। ब्रह्मचर्य्य भी अन्तर्व्यञ्जक शब्द है। यह केवल इन्द्रिय-निग्रह नहीं है, मनोमल का परिष्कारक है। भोग-विलास से रहित शिशु-शरीर में जैसे मल-मूत्र प्रवाहित होता है वैसे ही संयमित शरीर में रागादि मल भी प्रवाहित हो सकते हैं। बाहर-भीतर दोनों की मलिनता से मुक्त होकर बालहंस (शिशु) की निर्विकार मनःस्थिति प्राप्त कर लेना ही ब्रह्मचर्य्य है। जैसे शरीर में मल-मूत्र का सञ्चय दुखःदायी है वैसे ही मन में रागादि का सञ्चय भी कष्टदायक है। तथागत ने कहा है—'संक्लेश (मल) युक्त चित्त से मुक्त असंक्लेश चित्त ही निर्वाण प्राप्त करता है।'

शरीर में मल-मूत्र की तरह ही मन में रागादि मल प्रस्रवित होते रहते हैं, अतएव, ये आस्रव कहलाते हैं। आस्रव ही जन्म-मरण के कारण हैं। जब तक आस्रव क्षीण नहीं हो जाते तब तक आवागमन बना रहता है, पुनर्जन्म होता रहता है। चाहे वह इस लोक में हो, चाहे परलोक में।

तथागत धर्म्म का लक्ष्य किसी पारलौकिक स्वर्ग को नहीं मानते। कुण्ठाओं (अवरुद्ध आस्रवों) से मुक्त (कुण्ठारहित) मन ही उनका वैकुण्ठ है। उनकी मुक्ति-साधना इसी लोक की सांस्कृतिक साधना है। बौद्ध मतानुसार—"इसी शरीर में राग-द्वेष आदि चित्तमलों का विनष्ट होना क्लेश-निर्वाण है और क्लेश-रहित अर्हत की मृत्यु होने पर उसके जन्म की सम्भावना के नष्ट होने का नाम स्कन्ध-निर्वाण है।"

इन्द्रियों की विविध प्रवृत्तियों की तरह आस्रव भी अनेक हैं— कामास्रव, भवास्रव, दृष्टास्रव, अविद्यास्रव। केवल कामास्रव से मुक्त होना ही ब्रह्मचर्य्य नहीं है। यह तो वह चैतन्य चारित्र्य है जो सभी दूषित प्रवृत्तियों (आस्रवों) से मुक्ति के लिए सतत जागरूक रहता है; प्रवाह में बह नहीं जाता, तैर कर पार हो जाता है।

एक शब्द में वीतरागता ही ब्रह्मचर्य्य है, उसी की साधना को तथागत ने वीर्य्य, उद्योग, मनोवल कहा है। उन्होंने आदेश दिया है— "सदा आलस्य-रहित (वीर्य्यवान) रहो, मन को वश में रक्खो, परिश्रम पूर्वक श्रेयस्कर कार्य्य करो, क्योंकि हवा में जलती दीपशिखा के समान जीवन चञ्चल और महादुःख के वशीभूत है।"

वीतरागता जड़ता या निर्जीविता नहीं है। वह मृत्यु नहीं, अमृत है। इन्द्रियों का निरोध तो मृत्यु से भी हो जाता है, किन्तु रागों का परिहार अमृतत्त्व से ही किया जा सकता है। देह में ही विदेह हो जाना वीतरागता है। इसे सुचित्तता या चेतना की स्वस्थता कह सकते हैं। शरीर क्षणभङ्गुर है, उसका ओज निष्प्रभ हो जाता है, किन्तु स्वस्थ चित्त का अमित तेज वह अतीन्द्रिय प्रकाश अथवा अन्तर का उजास है जो मृत्यु के बाद भी मुखमण्डल पर उद्भासित रहता है।

निर्वाण का अर्थ मृत्यु नहीं, दीपक का बुझ जाना नहीं; अपितु आस्रवों से धूमिल जीवन की ज्योति का स्वच्छ हो जाना है, पूर्णतः प्रकाशित हो जाना है। निर्वाण नैर्मल्य है। ज्यों ज्यों मल निःशेष होते जाते हैं त्यों-त्यों प्रकाश निर्वाण की अनेक श्रेणियों को पार कर लौ की तरह ऊपर उठता जाता है। जो जिस श्रेणी का प्रकाश प्राप्त करता है वह उस श्रेणी का मुमुक्षु होता है; यथा—स्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी, अर्हत। इन्हीं श्रेणियों के अनुसार साधक की स्थिति (निर्वाण, परिनिर्वाण, महापरिनिर्वाण) का परिचय मिलता है। रागादि मलों से क्रमशः मुक्त होकर भी मुमुक्षु, शरीर से संलग्न रहता है; वह जब शरीर से भी मुक्त हो जाता है तब अर्हत कहलाता है। उसकी स्थिति सभी स्थितियों से परे जीवन्मुक्ति हो जाती है। अन्य साधकों

की तरह उसका पुनर्जन्म नहीं होता, क्योंकि वह क्षीणास्रव ही नहीं, अनास्रव हो जाता है। आस्रव मनोविकार हैं, अतएव, इनका उन्मूलन भी उच्च मानसिक सतह पर ही होता है। उस सतह पर जब आस्रवों का उन्मूलन हो जाता है तब वे ठूँठे-ताल (सिर से कटे ताड़) की तरह हो जाते हैं। तथागत के ही शब्दों में—"वे नष्ट-मूल हो गये, ठूँठे ताल की तरह हो गये, भविष्य में न उत्पन्न होने वाले हो गये।"

देहशुद्धि की तरह अन्तःशुद्धि (मनःशुद्धि) की भी अनेक प्रक्रियाएँ हैं। इन मानसिक प्रक्रियाओं को बौद्ध धर्म्म में योगाचार कहते हैं। सभी आचारों का केन्द्रविन्दु ब्रह्मचर्य्य है। यह जन्म, यह जीवन ब्रह्मचर्य्य का ही अधिवास है। अधिष्ठान पूर्ण हो जाने पर साधक को सन्तोष होता है—"जन्म क्षय हो गया, ब्रह्मचर्य्यवास पूरा हो गया। करणीय कर लिया गया, अब यहाँ कुछ करना नहीं है।"

शान्ति, मुक्ति, निवृत्ति, अनासक्ति, ब्रह्मचर्य्य, निर्वाण, ये सब एक ही अमृतत्त्व के पर्य्याय हैं। इनमें से किसी एक को भी हृदयङ्गम कर लेना बौद्धधर्म्म के समग्र अभिप्राय का सूत्र पा जाना है।

कहा जाता है, बुद्ध बुद्धिवादी थे। निःसन्देह अपने समय की निर्जीव रूढ़ियों से खिन्न होकर बुद्ध बौद्धिक हो गये थे। आत्मा-परमात्मा-स्वर्ग और धार्म्मिक कर्म्मकाण्ड (यज्ञादि) ये सब पारलौकिक स्वार्थ मात्र रह गये थे, व्यक्तिगत विलास (सौन्दर्य्य और ऐश्वर्य्य) की तरह निर्म्मम तथा असामाजिक हो गये थे। इसीलिए बुद्ध ने इन सबका खण्डन कर मूलभूत कर्त्तव्य (आत्मशुद्धि) का ध्यान दिलाया। बौद्धिक होते हुए भी वे दार्शनिक नहीं, साधक थे; उनकी सम्बोधि अन्तःस्पर्श करती है, मनुष्य को सहृदय बनाती है। उन्होंने जिस तरह सौन्दर्य्य और ऐश्वर्य्य को जरा-मरण से निःसार दिखलाया उसी तरह आत्मा-परमात्मा-स्वर्ग और कर्म्मकाण्ड को भी निरर्थक बतला कर लोगों को धर्म्म के सत्त्वांश (शुद्ध जीवन) की ओर प्रेरित किया आत्मसाधना के रूप में उन्होंने आध्यात्मिक यथार्थ दिया। आडम्बरों और प्रपञ्चों के घटाटोप से हटा कर जीवन के सत्य को सहज सरल रूप में प्रकाशित किया। वे ऋजुभूत थे।

बुद्ध के जीवन-काल में ही उनकी आलोचना होने लगी थी। किन्तु वे विचलित नहीं हुए, क्योंकि रूढ़ियों की तरह पूर्वग्रह से भी मुक्त थे; मताग्रही नहीं, सत्याग्रही थे। अपने प्रति भी जनता का अन्धविश्वास नहीं चाहते थे, सबमें प्रज्ञा का प्रस्फुरण देखना चाहते थे। सबको विचार-स्वातन्त्र्य का अवसर देते थे। विवाद नहीं करते थे, ग्रन्थों और आप्तवाक्यों का सहारा नहीं लेते थे, दैनिक जीवन के दृष्टान्तों से ही उलझन को सुलझा देते थे।

आलोचकों का कहना था कि वे निष्क्रिय और नीरस हैं। वैरञ्जक ब्राह्मण ने जब उन्हें आलोचकों के विचारों से अवगत कराया तब बुद्ध ने कहा—

"ब्राह्मण! ऐसा कारण है, जिस कारण से मुझे ठीक कहते हुए 'श्रमण गौतम अ-रस-रूप है' कहा जा सकता है। जो वह रूप-रस (= रूप का स्वाद), शब्द-रस, गन्ध-रस, रस-रस, स्पर्श-रस हैं, तथागत के वह सभी प्रहीण = जड़-मूल से-कटे, सिर-कटे ताड़-से नष्ट (आगे न उत्पन्न होने वाले) हो गये हैं। ब्राह्मण! यह कारण है, जिससे मुझे 'श्रमण गौतम अ-रस-रूप है' कहा जा सकता है; किन्तु उससे नहीं जिस ख्याल से कि तू कहता है।.........

ब्राह्मण! ऐसा कारण है, जिससे ठीक ठीक कहते हुए 'श्रमण गौतम अक्रियावादी है' कहा जा सकता है। मैं काया के दुराचार (= प्राणिहिंसा, चोरी, व्यभिचार), वचन के दुराचार (= झूठ, चुगली, कटु वचन, प्रलाप), मन के दुश्चरित (= लोभ, मोह, मिथ्या-दृष्टि) को अ-क्रिया कहता हूँ। अनेक प्रकार के पाप = (अ-कुशल धर्म्मों) को मैं अक्रिया कहता हूँ।"

इसी तरह उन्होंने अपने ऊपर किये गये अन्य आरोपों का भी प्रतिवाद किया। उनके सभी प्रतिवादों का सारांश एक है—जीवन की सर्वाङ्गीण संशुद्धि। इसके बिना तो बाहर के सभी रस और व्यापार वीभत्स और घृणित हो जाते हैं। लोगों के विकृत अभ्यासों को सुसंस्कृत कर देने के लिए बुद्ध ने जीवन का सौन्दर्य्य-बोध (शुचिता और रुचिरता)

दिया। उनकी अ-क्रिया अकर्म्मण्यता नहीं है। जीवन की कुरूपता के प्रति निष्क्रिय (वीतराग) और लोक के योग-क्षेभ के प्रति वे सक्रिय (सानुराग) थे।

यह पुस्तक तथागत भगवान् बुद्ध की न तो जीवनी है और न बौद्ध धर्म्म का कोई साम्प्रदायिक ग्रन्थ है, यह तो अढ़ाई हजार वर्ष बाद बीसवीं शताब्दी के एक क्षीणतनु प्रतनु ब्राह्मणकुमार का अपने दुर्बल पगों से उनकी चारिका का यथाशक्ति अनुगमन है। इसे मेरी आचारिका कह सकते हैं।

अपनी 'पद्मनाभिका' में मैंने 'बोधिसत्त्व' पर एक लेख लिखा था, वह पूर्ण होकर भी अपूर्ण था। 'चारिका' उसकी सम्पूर्ति और मेरी संतृप्ति है, सन्तोषी भिक्षु की सी संतृप्ति।

तथागत का राग-रहित जीवन कवित्व-शून्य जान पड़ता है। किन्तु क्या सचमुच उनके जीवन में काव्यत्त्व नहीं है? उनका शुभ्र शारद अन्तःकरण, उनका गिरिमुकुट-सा केशबन्ध, उनका कमल-कोमल मुख, उनका प्राकृतिक अनुराग, उनका लोक संवेदन, उनका त्रिकाल अखण्ड जीव-बोध (पुनर्जन्म), ये सब अनायास काव्योद्रेक कर देते हैं।

पुस्तक के प्रणयन में अश्वघोष के 'बुद्धचरित' और राहुल जी की 'बुद्धचर्य्या' से विशेष सहयोग मिला है।

कहीं-कहीं कतिपय आधुनिक कवियों की पंक्तियों से यथाप्रसङ्ग भावनाओं को प्रतिध्वनित करने का सुयोग भी मिला है।

सबका आभारी हूँ।

लोलार्क कुण्ड,
वाराणसी
८।८।५८

—लेखक

अनुक्रमणिका

चारिका

[आख्यानिका]

यात्रि आमि ओरे,
पार्बे ना केउ राखते आमार ध'रे ।
दुःखसुखेर बाँधन सबइ मिछे,
बाँधा एघर रइबे कोथाय पिछे,
बिषय बोझा टाने आमाय नीचे,
छिन्न हये छड़िये याबे प'ड़े ।
यात्रि आमि ओरे,
चल्ते पथे गान गाहि प्राण भ'रे ।
देह-दुर्गे खुल्बे सकल द्वार,
छिन्न हबे शिकल बासनार,
भालोमन्द काटिये हबो पार,
चलते रबो लोके लोकान्तरे ।
यात्रि आमि ओरे !

—रवीन्द्रनाथ

[१]

धर्म्मचक्र-प्रवर्त्तन

"अविद्या के कारण संस्कार होता है, संस्कार के कारण विज्ञान (संज्ञा) होता है, विज्ञान के कारण नाम-रूप, नाम-रूप के कारण छः आयतन[1], छः आयतनों के कारण स्पर्श (विषय), स्पर्श के कारण वेदना, वेदना के कारण तृष्णा, तृष्णा के कारण उपादान,[2] उपादान के कारण भव, भव के कारण जाति, जाति (जन्म) के कारण जरा, मरण, शोक, क्रन्दन, दुःख, चित्तविकार और चित्तखेद उत्पन्न होते हैं।"

—बोधिवृक्ष के नीचे यह सम्बोधि प्राप्त कर शुद्ध बुद्ध परिव्राजक चारिका के लिए चल पड़ा, रूप-राग (बाह्य आकर्षण) और अरूप-राग (मनोविकार) से विकल सृष्टि को सुख-शान्ति का उपाय बतलाने के लिए अपनी एकान्त-समाधि से उठ कर लोक-भूमि पर अग्रसर हो गया।

यात्रा के लिए उद्यत होने पर वह सोचने लगा—पहिले किधर चलूँ, पहिले किसे देशना (उपदेश) दूँ ?

उसका ध्यान उन आश्रमों की ओर गया जहाँ उसने आत्मशुद्धि के लिए तपश्चर्य्या की थी। यद्यपि आश्रमों की तपश्चर्य्या पर उसे विश्वास नहीं था, तथापि आश्रम-गुरु आलार कालाम और उद्दक

---

१. छः आयतन इन्द्रियगत हैं—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, मन; छ आयतन इन्द्रियों द्वारा अनुभूत हैं—रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श, धर्म्म।

२. पाँच उपादान—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान।

रामपुत्त विवेकवान व्यक्ति जान पड़े। उसने सोचा—उनका चित्त निर्म्मलप्राय है, वे मेरी सम्बोधि को शीघ्र हृदयङ्गम कर लेंगे। मेरी प्रेरणा उनके अन्तःकरण में अङ्कुरित हो जायगी।.........

किन्तु दूसरे क्षण गुप्तदेवता (अर्न्तदृष्टि) ने उसे सूचना दी—वे दोनों तो दिवङ्गत हो चुके हैं।

अब?—उसे अपने उन पाँच साथियों (पञ्चवर्गीय भिक्षुओं) की याद आयी जो कभी उसके साथ थे और आहार ग्रहण कर लेने के कारण उसे तपोभ्रष्ट समझ कर उसका साथ छोड़ कर चले गये। परिव्राजक अनुमान करने लगा—वे इस समय कहाँ होंगे? उसने अन्तश्चक्षुओं से देखा—वे साथी इस समय वाराणसी के मृग-दाव ऋषिपत्तन (सारनाथ) में भ्रमण कर रहे हैं।

प्रकृति की सुरम्यता ही उसे शुभ दिशा की सूचना देती थी। बचपन में जो प्रकृति के आँगन में खेला और उसी की छाया में सम्बुद्ध हुआ वह बोधिसत्त्व (प्राज्ञ जीव) सारनाथ की ओर उन्मुख हो गया।......

पुराने धार्म्मिक सम्प्रदायों से भिन्न अपने नये धर्म्म-मार्ग पर जब वह चला जा रहा था तब बुद्धगया और गया के बीच उपक नामक आजीवक* ने उसे कौतूहल से देखा—इसकी इन्द्रियाँ कितनी स्वस्थ और मुख कितना कान्तिमान है! अवश्य ही इसे इष्टसिद्धि हो गयी है। पास जाकर पूछा—आवुस (आयुष्मान)! तुझे किस शास्ता (गुरु) से दीक्षा-लाभ हुआ है, किस धर्म्म से तुझे परितोष मिला है?

परिव्राजक ने आत्मविश्वासपूर्वक कहा—मैं अपना शास्ता स्वयं हूँ। मैं अब तक के सभी धर्म्मों (सम्प्रदायों) से स्वतन्त्र हूँ, निर्लिप्त हूँ। अपना मार्ग अपनी ही दृष्टि से देखता हूँ, अपने ही पगों से चलता हूँ।

रूढ़िपन्थी उपक आजीवक को परिव्राजक के उत्तर से सन्तोष नहीं हुआ। वह उपेक्षा से सिर हिला कर टरक गया।

---

*नागा साधु

कितने ही प्राकृतिक दृश्यों से आँखों को आँजते हुए, बिहार की भूमि (बोधिगया) से परिव्राजक ने उत्तर प्रदेश की भूमि (सारनाथ) में प्रवेश किया। उसके उन पाँचों साथियों (पञ्चवर्गीय भिक्षुओं) ने उसे आते हुए दूर से देखा। उनके ओठों पर तीक्ष्ण व्यंग्य दौड़ गया। उन्होंने आपस में विचार किया—इस ढोंगी गौतम[1] का अभिवादन और प्रत्युत्थान[2] नहीं करना चाहिये, क्योंकि भिक्षु होकर भी यह बाहुलिक (परिग्रही) है, तभी तो इसने उपवास छोड़ कर अन्न ग्रहण कर लिया, जो काया की रक्षा करेगा वह माया से कैसे मुक्त हो सकेगा !

एक ने कहा—फिर भी यह हम लोगों का पहिले का साथी है, इसकी सर्वथा उपेक्षा करना ठीक नहीं।

निश्चय हुआ—आगे बढ़ कर इसका पात्र-चीवर लेकर स्वागत नहीं करना चाहिये, क्योंकि यह तपोभ्रष्ट परिव्राजक है; केवल आसन रख देना चाहिये, बैठना चाहेगा तो बैठेगा नहीं तो चला जायगा।..............

अरुणोदय से जैसे शनैः शनैः अन्धकार मिटता जाता है वैसे ही परिव्राजक ज्यों ज्यों उन पञ्चवर्षीय भिक्षुओं के निकट आता गया त्यों त्यों उनका अनादर भाव तिरोहित होने लगा। सन्मुख उपस्थित होने पर वे उसके तेज से अभिभूत हो गये। यह वही तेज था जिसके लिए कवि ने कहा है—बिना सुलगायी सौम्य शिखाओं की आग।

भिक्षुओं में से एक ने आगे बढ़ कर परिव्राजक का पात्र-चीवर अपने हाथों में ले लिया, दूसरे ने आसन बिछाया, तीसरे ने पादोदक (पैर धोने का जल) प्रस्तुत किया, चौथे ने पादकठलिका (पैर रगड़ने की लकड़ी) ला रक्खी। परिव्राजक आसन पर विराजमान होकर जब पैर धोने लगा तब पाँचवें ने पैर धुलाने के लिए पादोदक अपने हाथ में ले लिया।

सेवा और सम्मान में संलग्न हो जाने पर भी पाँचो साथी परि-

---

१. बुद्ध का जन्मकुल। २. सम्मान के लिए खड़ा होना।

व्राजक से बाहर ही बाहर प्रभावित हुए थे, अभी उसके अन्तस तक नहीं पहुँच सके थे ; अतएव उसे भी सांसारिक जनों की तरह आवुस (आयुष्मान) कह कर सम्बोधित करते थे ।

परिव्राजक ने कहा—भिक्षुओ ! मैं तथागत हूँ, अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध हूँ । तथागत को नाम लेकर या 'आवुस' कह कर नहीं सम्बोधित करना चाहिये । आयु बड़ी चीज़ नहीं है, तृष्णा-क्षय बड़ी चीज़ है । सुनो, मैंने जिस सूक्ष्म सत्य को पाया है उसे तुम्हें प्रदान करता हूँ, उसे ग्रहण कर जन्म-मरण से मुक्त हो जाओ, पृथ्वी पर ब्रह्मचारी होकर विचरण करो ।

परिव्राजक के निषेध करने पर भी उन भिक्षुओं का रूढ़ सम्बोधन नहीं बदला, वे बार-बार उसे आवुस कह कर सम्बोधित करते थे । उनके मन में शंङ्का और जिज्ञासा बनी हुई थी । उन्होंने कहा—आवुस गौतम ! तुमने तो भौतिक साधनों का परित्याग कर दिया था । ऐश्वर्य्य को तो छोड़ा ही था, तत्पश्चर्य्या के लिए अन्न भी छोड़ दिया था । अब तुम फिर आहार करने लगे हो, इसी तरह क्या क्रमशः अन्य भौतिक साधनों का भी सेवन नहीं करने लगोगे ? तुम तो आर्य्यों के ज्ञान-दर्शन की पराकाष्ठा (दिव्य शक्ति) की साधना कर रहे थे । जब तपश्चर्य्या से उसमें सफल नहीं हो सके तो देह की रक्षा करके कैसे सफल हो सकोगे ?

परिव्राजक ने कहा—पृथ्वी पर जो जन्म लेता है उसे शरीर से ही साधना करनी पड़ती है । अनाहार इत्यादि से शरीर को निःसत्त्व कर देना साधना नहीं है, यह तो आत्महत्या है । किसी तरह मृत्यु को निकट बुला लेना मुक्ति नहीं है, यह तो दारुण भुक्ति है । देखो न, अनवरत अनाहार से मेरी क्या दशा हो गयी थी !

"मैं मूँग का काढ़ा, कुलथी का काढ़ा, मटर का काढ़ा, चने का काढ़ा (हरेणु) ही पीकर रहता था । वह भी अत्यन्त अल्प होने के कारण मेरा शरीर बहुत कृश होने लगा । आसीतक वल्ली या काल वल्ली की गाँठों की तरह मेरे अङ्गों के जोड़ दिखाई देने लगे । ऊँट के

पैर की तरह मेरा कटिबन्ध हुआ। सूत की तकलियों की माला-जैसा मेरा मेरुदण्ड दिखाई देने लगा। टूटे हुए मकान के बल्ले जैसे ऊपर-नीचे हो जाते हैं, मेरी पसलियाँ भी वैसी ही हो गयीं। गहरे कुएँ में पड़ी हुई नक्षत्रों की परछाँई के समान मेरी आँखें धँस गयीं। कच्चे कद्दू को काट कर धूप में डाल देने से जैसे वह सूख जाता है वैसे ही मेरे सिर की चमड़ी सूख गयी। मैं पेट पर हाथ फेरता तो रीढ़ की हड्डी मेरे हाथ में लग जाती और रीढ़ की हड्डी पर हाथ फेरता तो पेट की चमड़ी हाथ आ जाती। शौच या पेशाब के लिए बैठता तो मैं वहीं पड़ा रहता। शरीर पर हाथ फेरने पर मेरे दुर्बल बाल आप ही आप नीचे गिर जाते।"

भिक्षुओ! मल-मूत्र के कारण जैसे शरीर की उपेक्षा नहीं की जा सकती, वैसे ही मनोविकारों के कारण भी इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। मल-शुद्धि की तरह मनःशुद्धि भी इसी शरीर से किया जा सकता है। यदि मल और मनोविकार न हों तो साधना की क्या आवश्यकता!

भिक्षुओं ने पूछा—शरीर की रक्षा करने से क्या भौतिक सम्पत्ति का सञ्चय नहीं होने लगेगा?

परिव्राजक ने कहा—जैसे शरीर में मल-मूत्र का सञ्चय करना कोई बुद्धिमान पसन्द नहीं करता, वैसे ही जीवन में भौतिक सम्पत्ति का सञ्चय करना भी पसन्द नहीं होना चाहिये। मल-मूत्र के सञ्चय से शरीर व्याधिग्रस्त हो जाता है, भौतिक सञ्चय से मन विकार-ग्रस्त हो जाता है। स्वस्थ जीवन के लिए देह-शुद्धि की तरह मनःशुद्धि भी आवश्यक है।

भिक्षुओं ने पूछा——मनःशुद्धि (चित्त-शुद्धि) कैसे की जाय?

परिव्राजक ने कहा——जैसे देह-शुद्धि के लिए नियम-संयम हैं वैसे ही मनःशुद्धि के लिए भी नियम-संयम हैं। जैसे शरीर अपने सर्वाङ्ग सङ्गठन से व्यवस्थित है वैसे ही मन भी सम्यक् बोध से सुव्यवस्थित (सुस्थिरचित्त) हो सकता है। बोधिवृक्ष के नीचे जब मुझे मनो-

विकारों का कारण ज्ञात हुआ तब उनके निराकरण (शुद्धीकरण) का भी परिज्ञान हो गया। मुझे अनुभव हुआ—पूर्ण वैराग्य से अविद्या (माया) का निरोध करने पर संस्कारों का निरोध होता है, संस्कारों के निरोध से विज्ञान का निरोध होता है, विज्ञान के निरोध से नाम-रूप का निरोध होता है, नाम-रूप के निरोध से षडायतन का निरोध, षडायतन के निरोध से विषय का निरोध, विषय के निरोध से वेदना का निरोध, वेदना के निरोध से तृष्णा का निरोध, तृष्णा के निरोध से उपादान का निरोध, उपादान के निरोध से भव का निरोध, भव के निरोध से जन्म का निरोध, जन्म के निरोध से जरा-मरण-शोक-परिवेदन-दुःख, दौर्मनस्य, उपायास का निरोध होता है। भिक्षुओ! कार्य्य-कारण की परम्परा के अनुसार चित्त-शुद्धि और आत्मशान्ति किंवा लोकशान्ति के लिए यही चेतना-प्रसूत विश्वसनीय उपलब्धि मेरा 'प्रतीत्य समुत्पाद' है।

इस वक्तव्य से भिक्षुओं की आँखें खुलने लगीं। परिव्राजक के प्रति अब उनमें दुराव नहीं, श्रद्धा का उद्रेक हुआ। उन्होंने निवेदन किया—भन्ते! आपने कहा, जैसे देह-शुद्धि के लिए नियम-संयम हैं, वैसे ही मनःशुद्धि के लिए भी नियम-संयम हैं। कृपया, मनःशुद्धि के नियम-संयम का स्वरूप निर्दिष्ट कीजिये।

परिव्राजक ने कहा——आवुसो! इन दो अन्तों (अतियों) से प्रव्रजितों को बचना चाहिये—(१) कामवासना और (२) काय-क्लेश (देहदण्डन)। इन दोनों से बच कर मध्यमार्ग (मध्यमा प्रति-पदा) का अवलम्बन करना चाहिये।

स्पष्टीकरण के लिए परिव्राजक ने चार 'आर्य्यसत्य'[१] और आर्य्य अष्टाङ्गिक मार्ग'[२] का विवेचन किया। इस तरह उसने उन भिक्षुओं

---

१. आर्य्यसत्य—दुःख, दुःख-समुदय, दुःखनिरोध, तथा दुःख-निरोध की ओर से जाने वाला मार्ग।

२. अष्टाङ्गिक मार्ग——आठ अङ्गों वाला मार्ग, आठ अङ्ग ये हैं—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त,

के सम्मुख अपने नये धर्म्म का जो प्रथम प्रवचन किया वही उसका वह 'धर्म्मचक्र-प्रवर्त्तन' है जो सारनाथ में परिचालित होकर सारे संसार में प्रचारित हो गया।

पृथ्वी पर बोये बीज जैसे क्रम-क्रम से उगते हैं वैसे ही परिव्राजक के ज्ञानाङ्कुर उन पाँचों भिक्षुओं के अन्तःकरण में क्रमशः अङ्कुरित हुए। उन्होंने परिव्राजक से प्रार्थना की—भन्ते ! हमें भी प्रव्रज्या प्रदान करें। परिव्राजक ने कहा—अन्तःकरण का सम्बुद्ध हो जाना ही प्रव्रज्या है। सम्बोधि को आचरण से स्थायित्त्व देने के लिए, वासना और वेदना से ऊपर उठने के लिए, प्रव्रज्यित को ब्रह्मचर्य्य का पालन करना चाहिये।

उन पाँचों भिक्षुओं ने आजीवन ब्रह्मचर्य्य (चैतन्य चर्य्या) का व्रत ले लिया, यही उनकी उपसम्पदा हो गयी।

सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि।

सम्यक् दृष्टि : यथार्थ ज्ञान, दुराचार और सदाचार की पहिचान, चार आर्य्य सत्यों का सम्यक् ज्ञान।

सम्यक् संकल्प : कामवासना से बचे रहने का तथा क्रोध और हिंसा न करने का संकल्प।

सम्यक् वाणी : झूठ न बोलना, चुगली न करना, कठोर वचन न कहना और फ़जूल न बोलना।

सम्यक् कर्म्मान्त : चोरी, व्यभिचार और प्राणिहिंसा न करना।

सम्यक् आजीविका : शस्त्र, जानवर (प्राणि), माँस, मद्य और विष का व्यापार न करना।

सम्यक् व्यायाम (प्रयत्न) : अनुत्पन्न अकुशल विचारों का उत्पादन न करना, उत्पन्न अकुशल विचारों का नाश करना ; अनुत्पन्न कुशल विचारों का उत्पादन करना, उत्पन्न कुशल विचारों का बढ़ाना।

सम्यक् स्मृति : यथार्थ जागरूकता, कार्य्य करते समय यह ज्ञान रखना कि मैं अमुककार्य्य कर रहा हूँ।

सम्यक् समाधि : शुभ कर्म्मों के करने में चित्त की एकाग्रता।

कालान्तर में वही पञ्चवर्गीय भिक्षु कौण्डिन्य, महानाम, भद्रक, वासव और अश्वजित् के नाम से विश्वविख्यात हुए ।

………पहिले के आश्रम और तपोवन बहुत पीछे छूट गये, अब सारनाथ की वनस्थली को मातृक्रोड़ बना कर परिव्राजक अपने उन पाँचों साथियों के साथ प्रकृति के वात्सल्य का सुधापान करने लगा जो मानों उसकी इन्द्रियों की तरह ही सुष्ठ हो गये थे ।

काशी,
१।५।५८

[२]

युग-दर्शन

अरी वरुणा की शान्त कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !
सतत व्याकुलता के विश्राम, अरे ऋषियों के कानन-कुञ्ज
जगत नश्वरता के लघुत्राण, लता-पादप-सुमनों के पुञ्ज
तुम्हारी कुटियों में चुपचाप चल रहा था उज्ज्वल व्यापार
स्वर्ग की वसुधा से शुचि सन्धि, गूँजता था जिससे संसार
अरी वरुणा की शान्त कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !

—'प्रसाद'

वरुणा की शान्त कछार (सारनाथ) में परिव्राजक केवल अपने उन भिक्षुशिष्यों के साथ ही नहीं बल्कि वहाँ की उन्मुक्त अरण्य-प्रकृति के साथ भी निवास करता था। प्रकृति का वह प्रशस्त प्राङ्गण एक बृहत् परिवार का प्राणिलोक था। मनुष्य से लेकर पेड़-पत्तों तक में एक ही सजीव स्पन्दन समवेत् था। वरुणा की मृदुल धारा में एकाकार हो-कर वही स्पन्दन प्रतिध्वनित होता था। परिव्राजक अनुभव करता—

"मैं इस जग में नहीं अकेला
मुझको तनिक न संशय,
वही चाह है कण-कण में
जो मेरे उर में निश्चय।"

उसे जान पड़ता—मनुष्य से लेकर पेड़-पत्तों तक ही नहीं, पृथ्वी से लेकर आकाश तक सम्पूर्ण सृष्टि एकप्राण, एककण्ठ, एकहृदय है। प्रभात में वह देखता—

विहग-कुल की कलकण्ठ-हिलोर
मिला देती भू-नभ के छोर।"

सृष्टि की एकता का आभास उसे चाँदनी रात में स्नेह-स्निग्ध अन्तःकरण की तरह मिल जाता। शान्त कछार में खड़ा होकर परिव्राजक जब चारों ओर देखता तब उसे सारी सृष्टि पर किसी मातृवत्सला सत्ता का शुभ्र आँचल फैला दिखाई देता। वह कौन है?—उसे चेतना कहें या ज्योत्स्ना, उसने अपना प्रेम-विह्वल दुग्धोज्ज्वल हृदय ही सृष्टि पर उँड़ेल दिया है।

शुद्ध बुद्ध परिव्राजक शान्त स्निग्ध ज्योत्स्ना से तदाकार होकर घण्टों घूमता रहता। उसे ऐसा जान पड़ा—यह ज्योत्स्ना, यह चाँदनी ही उसकी वह 'मध्यमा प्रतिपदा' है जो सन्तप्त सृष्टि को शान्ति दे सकती है। इसमें ताप की तीव्रता और जीवों की व्यग्रता नहीं है। इसमें सौम्य ज्योति (सम्बोधि) और सौम्य संवेदना (करुणा) है। यह शान्ति की अतीन्द्रिय सुषमा है।

चाँदनी-सी आत्मा लेकर ही प्राणी इस भव-ताप से उत्तप्त जगत में स्थितप्रज्ञ रह सकता है। तब बाहर की तपन भी भीतर शीतल हो जाती है। मस्तिष्क हिमालय की तरह ठंडा रहता है।

वैशाखी पूर्णिमा की विमल ज्योत्स्ना में ही जिसका आविर्भाव हुआ था, इसी की शीतलता में जिसे सम्बोधि प्राप्त हुई थी, इसी की दिव्यता में जिसका निर्वाण हुआ था, वह शुद्ध बुद्ध तो इलाचन्द्र ही था। चन्द्रमा के रथ के हिरन इस विरथ परिव्राजक के सहचर हो गये थे।

कहते हैं, सारनाथ के मृगदाव में कभी असंख्य मृग स्वच्छन्दता से चौकड़ी भरते थे। उस सघन वन में क्या हिंसक पशुओं का प्रवेश नहीं हुआ था? मृग वहाँ वैसे ही निर्भय-निर्द्वन्द्व थे जैसे परिव्राजक। वे उछलते-कूदते परिव्राजक के पास आ जाते, उसकी देह सूँघते, आत्मीयता की गन्ध पाकर उसकी गोद में बैठ जाते। उन्हें प्यार-दुलार करते हुए परिव्राजक को अपने एक पूर्वजन्म की याद आ गयी—

उन दिनों काशी में राजा ब्रह्मदत्त राज्य करता था। वह आखेट-

प्रिय था। आखेट के लिए राजकाज भी छोड़ देता था। राजकर्म-चारियों को राजा का यह आखेट-प्रेम अखरता था। उन्होंने परामर्श करके निश्चय किया कि वन के मृगों को राजा के उद्यान में ही हाँक लाया जाय।......राजा के उद्यान में मृगों के चरने के लिए घास बो दी गयी और पीने के लिए पानी का प्रबन्ध कर दिया गया।

वन के सब मृग उद्यान में आ गये। घेरे में घेर देने के लिए उद्यान का फाटक बन्द कर दिया गया। मुक्त मृग बन्धन-वद्ध जीव की तरह, पिञ्जरवद्ध विहङ्ग की तरह वन्दी हो गये।

राजकर्म्मचारियों ने राजा से निवेदन किया—महाराज, जैसे सब सम्पत्ति आपके महल में है, वैसे ही शिकार भी आपके उद्यान में ही है। सम्पत्ति के लिए जैसे द्वार-द्वार घूमना आपकी मर्य्यादा के अनु-रूप नहीं है वैसे ही आखेट के लिए वन-वन में भटकना भी आपके गौरव के अनुकूल नहीं है। सम्पत्ति की तरह आखेट का भी उपभोग आप घर बैठे करें।

राजा राजी हो गया।

उस समय तथागत (परिव्राजक) का जन्म मृगकुल में हुआ था। वह मृगों में सर्वाङ्ग सुन्दर सर्वश्रेष्ठ स्वर्णमृग था। उसकी रतनारी आँखें दीपक की तरह दीप्तमान थीं। शुभ्र शृङ्ग हिमशिखर की भाँति शोभाय-मान थे। पाँच सौ तरुण मृगों और मृगियों के साथ वह भी राजा के उद्यान में आ गया था।

राजा को स्वर्णमृग भा गया। उससे ऐसी ममता हो गयी कि उसके वध का निषेध कर दिया। उसे सुरक्षित छोड़ कर अन्य मृगों और मृगियों का शिकार करने लगा।

स्वर्णमृग स्वार्थी नहीं था। वह अपने समाज की रक्षा के लिए चिन्तित हो उठा। उसने सोचा—राजा इसी तरह अन्धाधुन्ध शिकार करता रहा तो मृग-वंश सर्वथा समाप्त हो जायगा। जीवन में मरण को अवश्यम्भावी समझ कर भी जैसे दूरदर्शी प्राणीकाल से बचाव करता है वैसे ही स्वर्णमृग अपने समाज की अस्तित्त्व-रक्षा के लिए प्रयत्नशील हुआ।

आपस में परामर्श करके यह निश्चय किया गया कि राजा से सामूहिक वध बन्द करने का अनुरोध किया जाय। एक मृग या मृगी नियम-पूर्वक शिकार के लिए यथा स्थान भेज दिया जाय, राजा उसी को मार कर अपना शौक पूरा कर लिया करे।

यह अनुरोध राजा ने मान लिया।

एक दिन एक गर्भिणी मृगी की बारी आ गयी। उसने अपने समाज से निवेदन किया—मैं मरने से नहीं डरती, किन्तु मेरे साथ एक अन्य (गर्भस्थ) जीव की भी हत्या हो जायगी, यह नियमानुसार ठीक नहीं है।

किन्तु जिन्हें अपने-अपने प्राणों का मोह था उन्हें गर्भिणी के निवेदन पर दया नहीं आयी। उन्होंने कहा—व्यवस्था का पालन न करने से अव्यवस्था फैल जायगी।

निराश होकर गर्भिणी ने स्वर्णमृग से अपनी व्यथा कही। वेदना की आँच से स्वर्ण की तरह ही पिघल जाने वाले उस संवेदनशील मृग ने द्रवित होकर कहा—तुम निश्चन्त रहो। तुम्हारे स्थान पर मैं जाऊँगा। गर्भस्थ शिशु का जीवन मुझसे अधिक मूल्यवान है।......

स्वर्णमृग का आश्वासन पाकर भी गर्भिणी आश्वस्त नहीं हो सकी। वह सोचने लगी— इस सहृदय के प्राणोत्सर्ग से तो समाज जीते-जी शून्य हो जायगा।......

उसके उदास मुख पर आशङ्का देख कर स्वर्णमृग ने कहा—मातृके! तुम मेरी चिन्ता मत करो। मुझे राजा के हृदय को परखने दो, देखें, हवमुझ पर कितनी ममता रखता है! ......

स्वर्णमृग चला गया।

हाथी पर बैठकर राजा जब आखेट-स्थल पर पहुँचा तब स्वर्ण-मृग को सामने देख उसने अनुमान किया, शायद कर्म्मचारियों की भूल से यह मेरा शिकार होने के लिए आया है।

राजा को दुविधा में देख कर आगे बढ़ कर स्वर्णमृग ने कहा—राजन्, मैं स्वेच्छा से आपके सामने आया हूँ।

राजा ने विस्मित होकर कहा—हे शुभङ्कर ! मैंने तो तुम्हें प्राण-दान दिया था। तुम यहाँ क्यों आ गये ?

स्वर्णमृग ने राजा को सब वृत्त बतला दिया। गर्भिणी हिरणी की व्यथा-कथा सुन कर राजा पसीज गया। उसने श्रद्धालु होकर कहा—धर्म्मात्मन्, तुम धन्य हो। तुम्हारे-जैसा त्याग करने वाला मनुष्यों में भी नहीं दिखाई देता। लो, उस गर्भिणी माता को भी अभय-दान देता हूँ।

स्वर्णमृग ने कहा—राजन्, दो की प्राणरक्षा से क्या होगा, जीव तो सबमें एक-सा ही है, आज आप गर्भिणी की रक्षा कर रहे हैं किन्तु हिंसा बनी रहेगी तो मातृ-अंश के बच जाने पर भी पितृ-वंश निर्मूल हो जायगा, भविष्य में अदृश्य अनागत शिशु वसुन्धरा के वात्सल्य से वञ्चित रह जायँगे।

राजा ने सदय होकर कहा—अच्छा, मैं उद्यान के सभी मृगों, सभी मृगियों को अभय-दान देता हूँ।

स्वर्णमृग ने कहा—राजन्, आप उदार हैं। अपनी उदारता को सीमित मत कीजिये, उसे महोदधि की भाँति असीम कर दीजिये।

स्वर्णमृग के मन की थाह लेने के लिए राजा ने कहा—आखिर तुम चाहते क्या हो ?

स्वर्णमृग ने कहा—ऐसी कृपा कीज़िये कि केवल इस उद्यान में ही नहीं, उद्यान के बाहर भी सृष्टि का संहार न हो।

राजा ने कहा—वनवासी मृगों को भी अभय-दान दे दूँ ?

स्वर्णमृग ने कहा—हे वदान्य, वन-उपवन के मृगों की ही नहीं, समस्त प्राणिजगत की हिंसा से रक्षा कीजिये, सबको अभय-दान दीजिये; क्योंकि सृष्टि के किसी भी अंश के प्रति हिंसा वृत्ति बनी रहने से कालान्तर में रक्षित प्राणियों की भी हिंसा होने लगेगी।

राजा विचारमग्न हो गया। वह अनुभव करने लगा—यह असाधारण मृग ही नहीं, कोई असाधारण जीव भी है। उसने जिज्ञासा की—हे महाप्राण, इस मृगावरण में आप कौन प्रज्ञावान छिपे हैं ?

वह निर्निमेष दृष्टि से स्वर्णमृग को देखने लगा। राजा की आँखों में पहिचान लेने की शक्ति देख कर स्वर्णमृग अब अपने को छिपा नहीं सका। उसने कहा—राजन्, इस समय तो मैं आपके सामने स्वर्णमृग ही हूँ, किन्तु मैं जन्म-जन्मान्तर से कितनी योनियों को पार कर चला आता तथागत हूँ। यदि आपकी मुझ पर ममता है तो सारी सृष्टि पर भी आपकी ममता होनी चाहिये, क्योंकि सबमें मेरी जीवानुभूति का प्रसार है। सृष्टि के किसी भी अंश की हिंसा होने से आपके ही उस प्रेम की हत्या हो जायगी जो आपकी सहृदयता से मुझे प्राप्त है।

......राजा की दृष्टि दिग्दिगन्त तक, युग-युगान्तर तक फैल गयी, त्रिकाल सृष्टि ही उसका दृष्टिपटल बन गयी। वह तथागत का शिष्य हो गया।

अपने समाज की ओर लौटते हुए स्वर्णमृग सोचने लगा—राजा की भी आयु की अवधि है, मेरी भी आयु की अवधि है, काल किसी के भी वश में नहीं है। इस जन्म के बाद हिंसा को कौन कैसे रोक सकेगा ? अहिंसा की परम्परा बन जाने पर भी वह तो वैसे ही निरर्थक हो जायगी जैसे अब तक की धार्म्मिक रूढ़ियाँ हो गयी हैं।

सोचते-सोचते वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि एक देह से दूसरी देह में जन्म लेना तो काल की पराधीनता है, यदि प्राणियों के अभ्यन्तर का कायाकल्प हो जाय तो वह देह में ही विदेह होकर, काल की पराधीनता से मुक्त होकर स्वाधीनचेता हो सकता है।

अतीत की स्मृति से जाग कर परिव्राजक फिर अपने वर्त्तमान में (मनुष्य रूप में) लौट आया। देखा—वही सघन वन है, वही मृग-दाव है, जीव-दया ओर जीवन्मुक्ति (अहिंसा और मोक्ष) की वही समस्या आज भी ज्यों की त्यों है। ओह, उसके सामने कितना गम्भीर उत्तरदायित्त्व है!.........

सबके साथ रहते हुए भी परिव्राजक अहर्निश मौन रहने लगा। कभी हिरनों को, कभी सहभिक्षुओं को जब स्नेह से वह सहलाने लगता तभी उसकी नीरव शान्ति क्रियान्वित हो उठती।

कौण्डिन्य को ऐसा जान पड़ता—तथागत फिर निःसङ्ग समाधि में लीन रहने लगे हैं। वह अनुमान करने लगा—सम्बोधि के बाद अब वे किस सम्पदा का अनुसन्धान कर रहे हैं।

एक दिन स्नान के बाद परिव्राजक जब चलने लगा तब मौन भङ्ग करने के लिए क्षमा माँगते हुए उसके सद्यःचिन्तन का प्रसाद पाने के लिए कौण्डिन्य ने निवेदन किया—भन्ते, आप आज कल चिन्तित जान पड़ते हैं। किस वेदना ने आपकी वाणी मूक कर दी है! कृपया अपनी निगूढ़ मनोव्यथा का हमें भी समभागी बनाइये।

परिव्राजक ने निःश्वास लेकर कहा—भणे, मैंने मनुष्यों के लिए तो सौम्म मार्ग निर्दिष्ट कर दिया, अब मेरे सामने यह प्रश्न है कि असौम्य (हिंसक) पशुओं को सौम्य मार्ग पर कैसे अग्रसर किया जाय? मनुष्य ही तो समस्त सृष्टि नहीं है। मानवेतर जीव भी सृष्टि ही हैं। केवल मनुष्य की मुक्ति सृष्टिमात्र की मुक्ति नहीं है। जब तक अन्य जीव भी अहिंसक नहीं हो जायँगे तब तक मनुष्य शेष सृष्टि से बँधा रहेगा।

कौण्डिन्य ने अनुभव किया, तथागत ठीक कह रहे हैं, भुक्ति की तरह मुक्ति भी सहकारिणी है। उसने पूछा—सुगत, मानवेतर जीवों के लिए सौम्य मार्ग क्या है?

परिव्राजक ने कहा—जो अष्टाङ्गिक मार्ग मनुष्य के लिए है वही असौम्य जीवों के लिए भी है। मैंने जिस धर्म्मचक्र का प्रवर्त्तन किया है उसे विकराल सिंह भी शिरोधार्य्य करें तभी उसकी सार्थकता है, सफलता है।

कौण्डिन्य ने कहा—भन्ते, यह क्या सम्भव है?

परिव्राजक ने कहा—क्यों नहीं सम्भव है! हम जीवों को उनके बाह्य कलेवर में देखते हैं, अन्तःकरण में नहीं; इसीलिए इतना दुराव है। अपने अन्तःकरण में सभी जीव एक-से ही संवेदनशील हैं, तभी तो हिंसक पशु भी प्रेम और वात्सल्य से स्निग्ध हो जाते हैं।

कौण्डिन्य ने पूछा—यदि प्रेम और वात्सल्य सभी जीवों में एक-सा ही है तो हिंसक पशु आक्रमण क्यों करते हैं?

परिव्राजक ने कहा—जो रागादि उपाधियों से सर्वथा मुक्त नहीं होता वह आत्मभीरु होता है। जो आक्रमण करता है वह भी आत्म-भीरु होता है। रागादि उपाधियाँ आत्महिंसा हैं। असौम्य जीवों में इसी आत्महिंसा की क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रहती है।

कौण्डिन्य ने निवेदन किया—भन्ते, शिशु तो निर्विकार होते हैं, हिंसक पशु उन पर भी आक्रमण क्यों करते हैं ?

परिव्राजक ने कहा—जैसे सभी मनुष्य एक-से नहीं होते वैसे ही सभी शिशु भी एक-से नहीं होते। सौम्य जीवों के लिए तो सभी प्राणी एक-से ही होते हैं, किन्तु जिन शिशुओं में हिंसा का परम्परागत संस्कार होता है, उनके प्रति भी असौम्य जीवों में प्रतिक्रिया आ ही जाती है। स्वभावतः प्राणी संवेदनशील है, अतएव प्रेम और द्वेष अनबोले ही अन्तःस्पर्श कर लेते हैं। यदि भीतर द्वेष है तो बाहर अहिंसा की आशा नहीं की जा सकती।

कौण्डिन्य ने कहा—फिर भी यह प्रश्न तो बना ही रह जाता है कि असौम्य जीव सौम्य मार्ग का अवलम्बन कैसे कर सकते हैं ?

परिव्राजक ने कहा—जिस दिन हिंसा के लिए उपादान नहीं रह जायगा उस दिन हिंसक जीव भी सम्यक् आजीविका स्वतः ग्रहण करने लगेंगे। मनुष्य तो कभी मनुष्य को ही मार कर खा जाता था, क्या वह असौम्य पशुओं की तरह बर्बर नहीं था ! आज जैसे नर-हत्या जघन्य कृत्य जान पड़ती है वैसे ही कभी हिंसक पशुओं को जीव-हत्या भी जघन्य जान पड़ेगी।

कौण्डिन्य ने कहा—मनुष्य नरभक्षी भले ही न हो, किन्तु युद्ध में अब भी नरसंहार तो करता ही है।

परिव्राजक ने कहा—जिस अंश तक हिंसा अभी शेष है उस अंश तक मनुष्य की अन्तःशुद्धि भी अनिवार्य्य है। राग-द्वेष-दम्भ से मुक्त अहङ्कार-शून्य अन्तःकरण ही अहिंसक हो सकता है। करुणा वही कर सकता है जिसका हृदय शुद्ध हो सका है। चाहे पशु हो चाहे मनुष्य, अन्तःशुद्धि के लिए उसे अनेक सोपान पार करने पड़ेंगे। जो पूर्ण शुद्ध हो जायगा वही सृष्टि के लिए आदर्श होगा।

कौण्डिन्य ने पूछा—जो जिस अनुपात में शुद्ध हो चुका है वह उस अनुपात में शान्ति-लाभ कर सकता है न ?

परिव्राजक ने कहा—लोक-साधना से रहित व्यक्तिगत साधना निष्फल हो जाती है। जंगल में जब आग लग जाती है तब जड़ काष्ठ के साथ चैतन्य वृक्ष भी जल जाता है। भणे, जिस ज्वाला से त्राण के लिए तुम वनवास कर रहे हो वह यहाँ भी आ सकती है।

वार्त्तालाप करते हुए दोनों अपने आवास पर पहुँच गये। उनकी बातचीत से प्रेरित होकर अन्य भिक्षु भी पास आ गये। परिव्राजक ने सबकी ओर उन्मुख होकर कहा—यहाँ आकर भूल न जाओ कि संसार में प्रचण्ड दावानल फैला हुआ है। भिक्षुओ ! सब कुछ जल रहा है। क्या जल रहा है ?—चक्षु जल रहा है, रूप जल रहा है, विज्ञान जल रहा है, संस्पर्श जल रहा है, सुख-दुःख जल रहा है, निर्वेद (न-सुख, न-दुःख) जल रहा है। राग-अग्नि से, द्वेष-अग्नि से, मोह-अग्नि से संसार स्मशान बनता जा रहा है।.........

अचानक परिव्राजक के धारा-प्रवाह प्रवचन में व्यवधान पड़ गया। कोई उद्विग्न नागरिक वनवीथियों में अटकता-भटकता चला आ रहा था। परिव्राजक ने कहा—अरे, देखो-देखो, दावानल से झुलसा हुआ वह कौन चला आ रहा है !

प्रवचन में तन्निष्ठ भिक्षुओं की तन्मयता ज्यों ही उद्ग्रीव हुई त्यों ही उन्होंने देखा—एक आकुल-व्याकुल पथिक त्राहिमाम्-त्राहिमाम् कहते हुए तथागत के चरणों पर गिर पड़ा।

काशी,
११।५।५५

[३]

अन्तर्निवेश

सारनाथ में तथागत ने धर्म्मचक्र का प्रवर्त्तन कर दिया था, किन्तु भव-चक्र उसके पहिले से ही चला आ रहा था। सबका जीवन उसी की परम्परा की पुनरावृत्ति करता आ रहा था, उसी के आघातों-प्रत्याघातों को भोगता आ रहा था—

"सतत रथ के चक्रों के साथ
घूमते शत-शत भाग्य अनाथ।"

एक दिन कपिलवस्तु का वह राजकुमार गौतम जिस भव-चक्र से पीड़ित हो चुका था उसी भव-चक्र से वाराणसी का सर्वसुखसम्पन्न एक सुन्दर सुकुमार श्रेष्ठिपुत्र भी पीड़ित हो उठा।

जिस वातावरण और जिस वीभत्स अनुभव से खिन्न होकर राजकुमार गौतम ने राजमहल छोड़ दिया था उसी वातावरण और उसी अनुभव से विरक्त होकर वह श्रेष्ठिपुत्र भी अपने रङ्गमहल को छोड़ कर शान्ति की दिशा में चल पड़ा था। सारनाथ से प्रवाहित होकर तथागत का मुक्तिमन्त्र काशी के वायुमण्डल में भी प्रतिध्वनित होने लगा था। रङ्गमहल के गवाक्षों से प्रविष्ट होकर उस दिव्य मन्त्र ने श्रेष्ठिपुत्र को उत्कर्ण कर, दिया था। वार्त्तावह पवन उसे निमन्त्रण देता रहता—

तुम्हें नहीं देता यदि अब सुख
चन्द्रमुखी का मधुर चन्द्रमुख;
रोग, जरा औ' मृत्यु देह में,—
जीवन-चिन्तन देता यदि दुख,
आओ प्रभु के द्वार।

... ...

सम्भव है, तुम मन के कुण्ठित,
सम्भव है, तुम जग से लुण्ठित,
तुम्हें लोह से स्वर्ण बना प्रभु
जग के प्रति कर देंगे जीवित,
आओ प्रभु के द्वार।"

* * *

परिव्राजक ने उस नतमस्तक अभ्यागत का क्लान्त मुख ऊपर उठा कर देखा—अरे, यह तो कोई कुम्हलाया हुआ लक्ष्मीपुत्र है। वह अब भी अपने पूर्वपरिच्छद में था। परिव्राजक ने बिना कहे ही उसकी व्यथा-कथा जान ली, क्योंकि कभी वह भी तो इसी अलंकृत वेश में राजमहल से बाहर निकल पड़ा था।

परिव्राजक ने पूछा—तुम्हारा क्या नाम है पथिक ?

श्रेष्ठिपुत्र ने कहा—आपके चरणों के शरणागत इस दास का नाम यश है सुगत ! अब तक के जीवन में तो मेरा नाम-रूप विद्रूपमात्र है, मैं तथागत से तद्रूप होना चाहता हूँ। यश नहीं, शान्ति चाहता हूँ।

परिव्राजक ने कहा—शान्ति के लिए जिस दिन तुम्हारे मन में प्रेरणा जगी उस दिन से ही तुम्हारे सांसारिक नाम-रूप का स्वतः परिवर्त्तन होने लगा। अब तुम्हें ऐसा आचरण चाहिये जो अन्तःप्रेरणा को स्थायी बना दे।

तरुण मुमुक्षु ने कहा—इसीलिए तो शरणागत हुआ हूँ सुगत ! कृपया मेरा करणीय मुझे अभिहित करें, मेरा कर्त्तव्य मुझे अवगत करें।

परिव्राजक ने कहा—तुम्हें उपसम्पदा लेनी होगी सुभद्र !

परिव्राजक के अभिप्राय को जानने के लिए तरुण जिज्ञासा की आँखों से उसके मुख को देखने लगा। परिव्राजक ने समाधान किया—आचरण के लिए पहिले उसका मूलाधार (ब्रह्मचर्य्य) धारण करना होगा। जानते हो ब्रह्मचर्य्य क्या है ?

तरुण ने अबोध शिष्य की तरह जानने की इच्छा प्रकट की—अभिज्ञापित करें तात !

परिव्राजक ने स्पष्टीकरण किया—ब्रह्मचर्य्य वह चरित्र है जिससे

निःसन्तप्त होकर (स्वस्थ चित्त होकर) दुर्गम जीवन-पथ पर चला जा सकता है, यह प्राणी का चैतन्य में विहार अथवा चेतना में सञ्चरण है, यह अभ्यन्तर की गत्यात्मकता है। शील और निष्काम कर्म्म इसी का सुकृत है। शील में है शुद्ध स्वभाव का संस्फुरण, निष्काम कर्म्म में है जीवन्त आचरण। जिसमें शील नहीं, वह निश्चल है, निश्चरण है, निराचरण है।

तरुण को ऐसा जान पड़ा, वह पगों के रहते हुए भी अब तक पङ्गु था। अपनी इस सांस्कृतिक रुग्णता से वह सिहर उठा, फिर नवजीवन की आशा से उत्साहित होकर बोल उठा—सुगत, अभ्यन्तर की यह गतिशीलता, यह उपसम्पदा, यह ब्रह्मचर्य्य मुझे स्वीकार है। कृपया इस गति का गन्तव्य भी निर्दिष्ट कर दीजिये।

परिव्राजक ने कहा—यथासमय गन्तव्य (निर्वाण) भी ज्ञात हो जायगा। यह जो च्युत न होने वाली (अच्युत) मुक्ति है, यही सार है, यही अन्तिम निष्कर्ष है, इसी के लिए ब्रह्मचर्य्य है। यदि ब्रह्मचर्य्य तुम्हें हृदयङ्गम हो गया है तो वही अपना गन्तव्य भी पा जायगा। तुम चाहो तो ब्रह्मचर्य्य का व्रत लेकर अब अपने घर वापस जा सकते हो।

तरुण विस्मित होकर परिव्राजक के मुख का भाव पढ़ने लगा—यह परिहास है या आदेश है! मुख की गम्भीर मुद्रा से त्रस्त होकर उसने उपालम्भ दिया—शास्ता, जिस कारावास को छोड़ आया हूँ आप मुझे फिर उसी कारावास में जाने के लिए क्यों आदेश दे रहे हैं! घर पर ब्रह्मचर्य्य का पालन कैसे हो सकेगा?

परिव्राजक ने कहा—क्यों नहीं हो सकेगा! ब्रह्मचर्य्य घर और बाहर की वस्तु नहीं है, यदि तुमने उसे हृदयङ्गम कर लिया है तो समझो वह तो आन्तरिक साधना है। जो शरीर से घर छोड़ता है, चित्त से नहीं; वह काम के अधीन है, वन में रहने पर भी गृहस्थ हैं। जो चित्त से घर छोड़ता है, शरीर से नहीं, वह आत्मस्थ है, घर में रहने पर भी वनवासी है। जो उपसम्पदा पा चुका है वह देश-काल और स्थान से मुक्त है, चाहे गृहस्थ हो चाहे भ्रमणशील भिक्षु। भिक्षु-वेष धर्म्म का

कारण नहीं है। जो सब जीवों को समान भाव से देखता है और शम एवं विनय-द्वारा इन्द्रियों को वश में रखता है वह आभूषण पहन कर भी धर्म्म में विचरण करने वाला ब्रह्मचारी हो सकता है।

तरुण को परिव्राजक का यह प्रवचन प्रहेलिका जान पड़ा। उसके दृष्टिफलक पर राजकुमार गौतम का जीवन-चित्र उभर आया। वह अपने ही जैसा जान पड़ा। उसने मानों उसी राजपुत्र से समरस होकर सखाभाव से दुलर कर कहा—तो आपने राजमहल क्यों छोड़ दिया ?......

परिव्राजक की पलकें स्मृति से बोझिल होकर सम्पुटित हो गयीं। उसकी आँखों में पल भर के लिए उसका वैभवशाली अतीत तैर गया। तत्काल मानों तन्द्रा से जग कर कहा—उस समय मैं अबोध था आवुस !

तरुण ने कहा—सम्बोधि प्राप्त हो जाने पर घर वापस क्यों नहीं चले गये ?

परिव्राजक ने कहा—जिन अनेक जन्मों में भ्रमण करता हुआ मैं राजकुल में उत्पन्न हुआ उन अनेक जन्मों के साथियों को खोजने पहिचानने और अपनी सिद्धि को बाँटने के लिए असीम सृष्टि में निकल पड़ा। इसी प्रकार पर्य्यटन करते हुए कभी नगरों और महलों में भी जा सकता हूँ।

तरुण ने निवेदन किया—यह सात्त्विक विश्वविचरण तो अन्य प्राणियों के लिए भी आवश्यक है आर्य्य !

परिव्राजक ने सिर हिला कर स्वीकार किया—हाँ, इसी के लिए तो ब्रह्मचर्य्य है।

तरुण ने स्मरण दिलाया—अभी आपने कहा, शम और विनय-द्वारा जो इन्द्रियों को वश में रखता है वह आभूषण पहन कर भी धर्म्म में विचरण करने वाला ब्रह्मचारी हो सकता है, तो फिर आप ने चीवर और भिक्षा-पात्र क्यों ग्रहण कर लिया ?

परिव्राजक ने कहा—जिस युग में राज-वेश और ऐश्वर्य्य ही उच्च जीवन का प्रतिमान बन जाता है उस युग में जनसाधारण की आँखों पर आडम्बर का स्थूल आवरण पड़ जाता है, वह आँखों के रहते हुए

भी अन्धा हो जाता है। अपने को तुच्छ समझने लगता है। अपना अपमान स्वयं करने लगता है। आत्मविस्मृत होकर कृत्रिम महत्ता का अन्धअनुसरण करने लगता है। उसे आत्मबोध देने के लिए जाग्रत अन्तःकरण का दृष्टान्त यह चीवर और यह भिक्षा-पात्र है। चीवर का अभिप्राय है अनासक्ति, भिक्षा का अभिप्राय है अपरिग्रह। आसक्ति और परिग्रह से ही तो संसार में वर्ग-वैषम्य है।

तरुण ने कहा—क्या चीवर और भिक्षा-पात्र से भी जनसाधारण दिग्भ्रमित नहीं हो सकता, यह भी तो आडम्बर की तरह ही बाह्य उपकरण है।

परिव्राजक ने सुदूर दृष्टि से भविष्य की ओर देख कर कहा—तुम ठीक कहते हो, चीवर और भिक्षा-पात्र भी जन-साधारण को दिग्भ्रमित कर सकता है।

तरुण ने प्रश्न किया—फिर इस चीवर और भिक्षा-पात्र की सार्थकता क्या है ?

परिव्राजक ने समाधान किया—आसक्ति से लोभ उत्पन्न होता है, परिग्रह से अविश्वास उत्पन्न होता है। लोभ से निर्लोभ की ओर, अविश्वास से विश्वास की ओर, स्वार्थ से सहयोग की ओर अग्रसर करने के लिए किसी भी विकृत युग में इस सात्त्विक व्यक्तित्त्व की सार्थकता बनी रहेगी।

तरुण ने जिज्ञासा की—तो फिर राजपद की तरह साधुपद के पाखण्ड से जनता का उद्धार कैसे होगा ?

परिव्राजक ने कहा—चेतना में ही नहीं, जड़ता में भी एक शक्ति होती है भणे ! अभी जो जनता जड़ता की प्रतिमूर्त्ति है वही कभी पाखण्ड का प्रतिकार करेगी। कैसे, जैसे भारवाही पशु अत्यधिक भार से आक्रान्त होकर रथ खींचना बन्द कर देता है।

तरुण ने कहा—यह तो प्रतिरोध हुआ, परित्राण का मार्ग उसे कसे मिलेगा भगवन् !

परिव्राजक ने कहा—जड़ता के लिए चेतना ही परित्राण का मार्ग

(आदर्श) उद्दिष्ट करेगी। जड़ता की तरह चेतना में भी प्रतिरोध की शक्ति होती है, किन्तु जड़ता जब कि स्वार्थ के लिए ही प्रतिकार करती है, चेतना प्रतिरोध से प्रतिपक्षी का भी हृदय-परिवर्त्तन करती है। वस्तुतः उसके लिए प्रतिपक्षी कोई नहीं है, क्योंकि जीवमात्र एक हैं। अपने इस जीवन्त बोध में चेतना रचनात्मक है। उसकी जो रचनात्मक शक्ति (अन्तर्निम्मर्णि) पीड़ितों का परित्राण करती है, वही रचनात्मक शक्ति प्रतिरोध में भी समाविष्ट रहती है। जड़ प्रतिरोध ऐन्द्रयिक होता है, अतएव, प्रवल प्रतिपक्षी के अत्याचारों से शरीर के साथ ही समाप्त हो जाता है; सचेतन प्रतिरोध सांस्कृतिक होता है, अतएव, शरीर के समाप्त हो जाने पर भी उज्जीवित रहता है। अपनी ऐहिक वलि देकर भी यह युग-युग को आत्मिक वरदान दे जाता है। जो प्रतिरोध में भी निर्द्वेष है, वही साधु है। साधुपद अमृतपद है भणे !

तरुण ने जिज्ञासा की—भन्ते! आपने कहा है : लोभ से निर्लोभ की ओर, अविश्वास से विश्वास की ओर, स्वार्थ से सहयोग की ओर अग्रसर करने के लिए किसी भी विकृत युग में इस सात्त्विक व्यक्तित्त्व की सार्थकता बनी रहेगी। तो, सब में निर्लोभ, विश्वास और सहयोग का भाव आ जाने पर इस भिक्षु-वेश और इस भिक्षा-पात्र की आवश्यकता नहीं रह जायगी ?

परिव्राजक ने कहा—जीवमात्र की तरह जब समाज भी एक हो जायगा, सबका आत्मोदय हो जायगा, तब सभी साधु हो जायँगे, चीवर और भिक्षापात्र के स्थान पर नये प्रतीक आ जायँगे। पुराने प्रतीक भी स्मृति-चिह्न की तरह शेष रहेंगे।

तरुण ने अनुरोध किया—अर्हत ! समग्र के प्रति जागरूक रहने के लिए, अपना कर्त्तव्य और गन्तव्य पहिचानते रहने के लिए, मुझे भी प्रव्रज्या प्रदान करने की कृपा कीजिये।

तथागत ने सन्तुष्ट होकर कहा—तथास्तु ।

......वह तरुण श्रेष्ठिपुत्र तरुण भिक्षु हो गया, मानों मदन मद-रहित हो गया ।

काशी,
१९।५।५८

[४]

अनुसन्धान

सन्ध्या के शान्त वातावरण में तथागत अपने शिष्यों के साथ बैठे संलाप कर रहे थे, उसी समय वन की एकान्त शान्ति को भङ्ग कर तुमुल क्रन्दन-कोलाहल गूंज उठा, कलरव करते हुए विश्राम के लिए लौटते विहग उस हाहाकार से त्रस्त हो उठे। उनके समरस जीवन-सङ्गीत में यह विषम व्याघात कैसा !

जिस भवचक्र को यश पीछे छोड़ आया था वही उसका पीछा करते हुए यहाँ आ पहुँचा था, क्रन्दन-कोलाहल भव-चक्र का घर्घर निनाद था।.........

प्रातःकाल यश जब रङ्गमहल में नहीं दिखाई दिया तब प्रतिहारी ने उसकी माता से कहा—महालक्ष्मि, कुलपुत्र का विश्राम-कक्ष सूना है। महल के किसी अन्य कक्ष में भी उनकी आहट नहीं मिल रही है। दास-दासियाँ सेवा के लिए प्रतीक्षा कर रही हैं, उन्हें आज्ञा प्रदान कीजिये।

यश की माता ने कुलवधू से पूछा। वधू ने कहा, वे तो मेरी आँखें खुलने के पहिले ही न जाने कहाँ चले गये आर्य्ये !

माता ने सोचा, कदाचित् वह प्रातभ्रमण के लिए उद्यान में चला गया होगा। अपने को आश्वस्त करने के लिए वह स्वयं प्रासाद के सर्वोच्च खण्ड पर खड़ी होकर उत्कण्ठित दृष्टि से यश को इधर-उधर हेरने लगी।.........यश कहीं दिखाई नहीं दिया।

तब, अनुमान किया—कदाचित् वह किसी मित्र के यहाँ चला गया होगा। उसने सेवकों को आज्ञा दी, नगर में मित्रों के यहाँ उसका पता लगाओ।.........

सेवक निष्फल होकर जब लौट आये तब यश की माता चिन्तित हो उठी। उसने महाश्रेष्ठि से कहा—स्वामिन्! यश न जाने कहाँ अदृश्य हो गया है, सेवक उसे खोज कर विफल लौट आये हैं।

गृहपति का ललाट आशङ्का से आकुञ्चित हो उठा—कहाँ गया वह? आज यह कैसी नयी बात हो गयी, पैदल ही कहाँ चला गया वह?

अचानक एक सेवक ने आकर सूचना दी—अन्नदाता, कुलपुत्र के स्वर्ण पादत्राण के चिह्न नगर के बाहर दिखाई दिये हैं।

महाश्रेष्ठि रोते-कलपते मानों अपने खोये हुए धन को खोजते हुए, यश के पदचिह्नों का अनुसरण करते सारनाथ की ओर अकेले चल पड़ा। सेवक ने जब साथ देना चाहा तो श्रेष्ठि ने कहा—जिसे सबके बीच में रहना चाहिये जब वहीं अकेला चला गया तब मैं ही कैसे मेला-झमेला लेकर जाऊँ! मेरा तो समय भी आ गया है।······

चलते-चलते वह दिग्विमूढ़ हो गया। यश के पदचिह्न वन में ही लुप्त हो गये थे। क्या उसे कोई हिंसक पशु खा गया। महाश्रेष्ठि वन की विभीषिका देख कर दहल गया, वह पुत्रशोक से कातर होकर हाहाकार करने लगा।

"वृथा रे यह अरण्य चीत्कार
शान्ति-सुख है उस पार"

—न जाने किस पूर्वजन्म के पुण्य से उसे स्मरण आया, सर्वशोक-तापहारी तथागत का इसी वन में शान्ति-निवास है। सान्त्वना पाने के लिए वह उनके समीप पहुँच गया। चरणों में प्रणत होकर उसने पूछा—तात! क्या आपने इस वन में कहीं कुलपुत्र यश को देखा है?

उस स्वर्ण-सम्पन्न श्रेष्ठि के विवर्ण मुख की ओर देख कर करुणा-वान ने कहा—स्वस्ति हो स्वस्ति, तुम्हारा चित्त विक्षिप्त है नागरिक, अपने श्रान्त-क्लान्त-आक्रान्त चित्त को तनिक सुस्थिर करो। तुम्हारा यश तुम्हें मिल जायगा।

महाजातक परिव्राजक तथागत की सौम्य वाणी से सहानुभूति

का स्पर्श पाकर नगरश्रेष्ठि का सन्तप्त चित्त तत्क्षण स्वस्थ हो गया।

श्रेष्ठि को सुचित्त देख कर परिव्राजक ने उसे धार्म्मिक उपदेश दिया। दैनिक जीवन के दृष्टान्त से ही उसके अन्तश्चक्षुओं को खोलने के लिए परिव्राजक ने प्रश्न किया—तुम अपने धर्म्मदाय से पीड़ितों को दाक्षिण्य प्रदान करते हो न नागरिक ?

श्रेष्ठि ने कहा—वह तो मेरी कुल-परम्परा है महात्मन् !

परिव्राजक ने फिर पूछा—जो देते हो उसके लिए शोक तो नहीं करते ?

श्रेष्ठि ने कहा—नहीं भन्ते !

"तो फिर जो चला गया उसके लिए शोक क्यों करते हो ?"

"कौन चला गया भन्ते ?"—श्रेष्ठि विचलित हो उठा।

"समझो, तुम्हारा यश तुम्हारे महल से वैसे ही चला गया जैसे तुम्हारे स्वर्णकोष से दातव्य द्रव्य।"

"उसे तो मैंने दान नहीं दिया भन्ते ! वह तो मेरा जीवन-धन है।"

"यह तुम्हारा मोह है नागरिक ! मोह कृपण होता है। तुम्हारे द्रव्यदान में तुम्हारा मोह सुरक्षित रहता है, इसीलिए वह मुक्तहस्त नहीं हो पाता।"

"किन्तु भन्ते ! यश तो जड़ धातु नहीं है, वह तो जीवित प्राणी है, उसे दान कैसे किया जा सकता है !"

"यश जड़धातु नहीं है, जीवित प्राणी है, इसीलिए उसकी जीवन-धारा तुम्हारे मोह से अवरुद्ध नहीं हो सकी, तुम्हारे बिना जाने ही उसने आत्मदान दे दिया।"

श्रेष्ठि चमत्कृत हो उठा। स्पष्टीकरण के लिए उसने पूछा—किसे आत्मदान दे दिया ? कैसे आत्मदान दे दिया ?

परिव्राजक ने समाधान किया—परिवार को छोड़ कर वह अपना हो गया, अपने को छोड़ वह सबका हो गया। अहम् को छोड़ कर वह निःस्व हो गया।

श्रेष्ठि ने उत्सुक होकर कहा—अब कहाँ है वह ? उसे देखने के लिए आँखें तरस रही हैं भगवन् !

परिव्राजक ने पूछा—तुम किस यश को देखना चाहते हो ?

श्रेष्ठि ने निवेदन किया—जो कल तक आँखों के सामने सशरीर था।

परिव्राजक ने कहा—जब किसी प्रिय जन का देहान्त हो जाता है तब स्वजन-परिजन किसके लिए क्रन्दन करते हैं ? शरीर तो शव हो जाता है, उसे कोई घर में नहीं रखना चाहता। तो फ़िर वह क्या है जिसे सशरीर देखते हैं, जिसके लिए स्वजन-परिजन क्रन्दन करते हैं ?

माया-ममता से मोहाभिभूत श्रेष्ठि ने उच्छ्वसित होकर कहा —तो क्या यश नि:शरीर हो गया भन्ते !

परिव्राजक ने प्रबोधन दिया—नागरिक, वह अब भी तुम्हारी तरह ही सशरीर है, तुम्हारे प्राणों की तरह ही सजीव है, किन्तु अब उसका पुनर्जन्म हो चुका है।

श्रेष्ठि उलझन में पड़ गया—यह कैसी नयी बात ! स्पष्टीकरण के लिए उसने जिज्ञासा की—भन्ते, जीते-जी पुनर्जन्म कैसे सम्भव है ?

परिव्राजक ने कहा—जिसे लोग मोक्ष कहते हैं, यदि उसे ठीक से हृदयङ्गम कर लिया जाय तो पुनर्जन्म भी समझ में आ जायगा। कोई मर कर भी मोक्ष-लाभ नहीं करता, कोई जीते-जी ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है। मनोविकारों का क्षय ही मोक्ष है। ज्यों-ज्यों मनोविकारों का क्षय होता जाता है त्यों-त्यों जीते-जी ही प्राणी का पुनर्जन्म भी होता जाता है। मोक्ष के लिए किसी को अनेक जन्म-जन्मान्तरों में पुनर्जन्म लेना पड़ता है, किसी को एक ही जन्म में अनेक पुनर्जन्म लेने पड़ते हैं।

श्रेष्ठि ने पुन: प्रश्न किया—पुनर्जन्म इतना चक्रमणशील क्यों है भन्ते !

परिव्राजक ने कहा—सुख-दुख के अनुभावक जीव पर जैसे शरीर का स्थूल आवरण पड़ा हुआ है वैसे ही उसकी निर्विकार चेतना पर

प्रवृत्तियों के भी अनेक आवरण पड़े हुए हैं। निर्वेद और सम्बोधि से वह ज्यों-ज्यों आवरण हटाता जाता है त्यों-त्यों उसका पुनर्जन्म होता जाता है। ये बाहर के नाम-रूप भी आवरण ही हैं गृही! अपने सभी आवरण हटा कर चेतना जब निरावरण हो जाती है तब वह अपने शुद्ध बुद्ध अन्तःस्वरूप को पा जाती है—

"हमारे काम न अपने काम,
नहीं हम, जो हम ज्ञात;
अरे, निज छाया में उपनाम,
छिपे हैं हम अपरूप;
गँवाने आये हैं अज्ञात,
गँवा कर पाते स्वीयस्वरूप।"

श्रेष्ठि अपने अलङ्कृत परिच्छद् को देख कर लज्जित हो गया। उसे अनुभव हुआ—यश को मैं तादात्म्य में नहीं, अपने ऐश्वर्य्य में खोज रहा हूँ। तथागत की प्रेरणा से जिसका रूपान्तर हो गया होगा, वह अपने पूर्व परिच्छद में कैसे पहिचाना जा सकेगा, उसका तो पुनर्जन्म हो चुका है।

उसकी अनुसन्धान-दृष्टि तथागत के परिवेश में बैठे हुए भिक्षुओं की ओर चली गयी। देखा—उन्हीं नक्षत्रों में यश भी एक नवीन दीप्ति से उद्भासित है। शरीर वही है, किन्तु इन्द्रियाँ ज्योतिर्म्मयी हो गयी हैं।

पिता को अपनी ओर दृष्टिपात करते देख कर यश सङ्कोच में पड़ गया—तथागत का प्रणत होकर अब पिता को कैसे प्रणति दूँ! उसके शील ने उसे मौन मन्त्रणा दी—जिस जीव-बोध के लिए तू प्रव्रज्यित हुआ है वह जीव तो पिता में भी है, उसे प्रणाम करना सर्वव्यापक तथागत को ही प्रणाम करना है।

उत्तिष्ठ होकर उसने पिता को करवद्ध विनम्र अभिवादन किया, तथागत की चरणधूलि मस्तक से, पलकों से लगा कर यथास्थान बैठ गया। महाश्रेष्ठि कृतकृत्य हो गया।

परिव्राजक ने उसका मर्म्मस्पर्श करने के लिए पूछा—अभ्यागत, यश को तुमने पहिचान लिया, पा लिया ?

श्रेष्ठि ने कहा—हाँ भन्ते, उसे पहिचानने और पाने के लिए आपने ही तो मुझे दृष्टिदान दिया।

परिव्राजक ने फिर पूछा—जिस सम्यक् ज्ञान से, जिस सम्यक् साक्षात्कार से यश अनास्रव (निर्मल) हो गया और तुम्हें भी धर्म्मचक्षु मिला, उस ज्ञान से, उस साक्षात्कार से, उस निःशेष राग से (अनासक्ति से) लाभ हुआ या अलाभ ?

श्रेष्ठि ने कहा—सुलाभ हुआ भन्ते !

परिव्राजक ने पूछा—तो अब क्या चाहते हो ?

श्रेष्ठि ने चरणों में प्रणत होकर कहा—मैं तथागत की शरण ग्रहण करता हूँ, धर्म की शरण ग्रहण करता, हूँ, भिक्षु-संघ की शरण ग्रहण करता हूँ। प्रभु, मुझे अपना साञ्जलि उपासक स्वीकार करें।

परिव्राजक ने उसके नतमस्तक पर अपना कर-कमल रख दिया।

श्रेष्ठि ने पुनः निवेदन किया—दयार्द्र ! मुझे तो जीवन-दान मिल गया, कृपया यश की वधू और माता को भी जीवन प्रदान करें। दोनों यश के वियोग में क्रन्दन और उपोषण (उपवास) कर रही हैं।......

परिव्राजक का निर्देश पाने के लिए यश तथागत का मुँह जोहने लगा।

अब तक परिव्राजक और उसके भिक्षु शिष्य एकान्त में ही वैराग्य-साधना कर रहे थे, परिव्राजक को ऐसा जान पड़ा—आत्मशान्ति के लिए यह एकान्त-साधना भी स्वार्थ है, अहङ्कार है। परमार्थ रागात्मक जगत के दुःखमोचन में है, सबकी शान्ति में ही आत्मशान्ति है। उसने सदय होकर श्रेष्ठि से कहा—मेरे योग्य सेवा से मुझे अवगत करो, अनुगृहीत करो गृही !

श्रेष्ठि ने निमन्त्रण दिया—यश को अनुगामी बना कर अपने भिक्षु संघ के साथ मेरे यहाँ भोजन करके मुझे सपरिवार कृतार्थ करें प्रभो !

भिक्षु शिरोमणि महापरिव्राजक ने प्रसन्न होकर कहा—एवमस्तु।

दूसरे दिन प्रातःकाल गृहपति श्रेष्ठि आसन से उठ कर, तथागत

की प्रदक्षिणा कर, चरणों को अभिवादन कर, आज्ञा माँग कर कृतज्ञ चित्त से चला गया।

काशी,
२६।५।५८

प्रबोधन

पूर्वाह्न में चीवर और भिक्षापात्र लेकर यश को अनुगामी बना कर महापरिव्राजक सहभिक्षुओं के साथ श्रेष्ठि के प्रासाद-द्वार पर पहुँच गया। मङ्गल कलश और तोरण-वन्दनवार से सुशोभित द्वार पर पहुँचते ही जयजयकार के साथ स्वागत में हंसशुभ्र शङ्ख मुखरित हो उठा।

तथागत के दर्शनों ओर कुलपुत्र यश के परिवर्त्तनों को देखने के लिए जन-समूह श्रद्धा और कुतूहल से उमड़ पड़ा। द्वार पर खड़े होकर महापरिव्राजक ने सब पर अपनी दृष्टि का प्रेम-प्रसार किया, सहभिक्षुओं के साथ यश ने भी उस दृष्टि का अनुसरण किया, फिर अपने पाणि-पल्लवों से आश्वस्ति का सङ्केत (अनिर्वच आशीर्वाद) देकर, सबको मौन प्रत्यभिवादन कर परिव्राजक ने गृह-प्रवेश किया; सहभिक्षुओं के साथ यश ने भी सबको मौन अभिवादन से अपनी हार्दिक उपस्थिति देकर तथागत का अनुगमन किया। जन-समूह सन्तुष्ट होकर चला गया।

तथागत के आसीन हो जाने पर यश की माता और वधू उनके चरणों में प्रणति देकर एक ओर बैठ गयीं। उनकी दृष्टि कभी तथागत के मुखमण्डल की आरती उतारती, कभी यश और उसके सहभिक्षुओं के मुखमण्डल की स्नेह-प्रदक्षिणा करती। श्रद्धा और स्नेह के साथ-साथ उनकी दृष्टि में विस्मय-विमूढ़ जिज्ञासा थी जो मानों मूक भाव से पूछती थी—ये किस दिव्य अनुभूति की मूर्त्ति-प्रतिमूर्त्ति हैं ?

अन्तर्य्यामी तथागत ने उनके मनोभावों को स्पर्श कर प्रश्न किया—यश की प्रव्रज्या से तुम लोगों को क्लेश तो नहीं हो रहा है ?

माता ने कहा—भगवन्, फूल के वृन्तच्युत हो जाने से जैसे क्षुप

का हृदय मर्म्माहत हो जाता है वैसे ही अपने रक्त-माँस की सृष्टि के विच्छिन्न हो जाने से माता का हृदय भी पीड़ित हो जाता है। माया-ममता को क्लेश होना स्वाभाविक है।

सहानुभूति से वधू की ओर देख कर उसने अनुभव किया, यह भी तो उसी की तरह उदास है। उसने अपनी व्यथा तो कह दी, किन्तु यह लज्जावती किससे कहे, कैसे कहे, क्या कहे!

तथागत ने कहा—विच्छिन्नता तो उसी दिन आरम्भ हो गयी जिस दिन शिशु माँ के गर्भ के बाहर आ गया। माँ क्या यही चाहती है कि शिशु उसके गर्भ में अजन्मा ही पड़ा रहे?

माता ने कहा—नहीं भगवन्!

तथागत ने कहा—तो फिर विच्छिन्नता का अनुभव क्यों करती हो?

माता ने कहा—जो कभी निकट था वह दूर जान पड़ता है।

तथागत ने कहा—जो कभी गर्भ में था वह तुम्हारे आँचल में आया, जो आँचल में दूध पीता था वह किलक कर पुलक कर पृथ्वी पर ठुमकने लगा, जो ठुमकता था वह प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर संसार में संसरण करने लगा—

"वही विस्मय का शिशु नादान
रूप पर मँडरा, बन गुञ्जार;
प्रणय से बिंध, बँध, चन-चुन सार,
मधुर जीवन का मधु कर पान;
साध अपना मधुमय संसार
डुबा देता निज तन-मन-प्राण।"

ये सब प्राणी की परिवर्त्तनशील स्थितियाँ हैं। क्या तुम आजीवन किसी को एक स्थिति में बाँध कर रख सकती हो?

माता ने कहा—नहीं भगवन्!

तथागत ने कहा—जिसे शैशव से लेकर तारुण्य तक में तुम चिर परिचित रूप में देखती आयी हो उसे पूर्व स्थिति से परवर्त्ती स्थिति में भी क्यों नहीं पहिचानतीं? विच्छिन्नता का अनुभव क्यों करती हो?

माता ने कहा—यह तो शरीर से ही नहीं, भीतर से भी बदल गया है।

तथागत ने पूछा—क्या पहिले भीतर से भी नहीं बदल रहा था, बचपन में उसकें जो मनोभाव थे, क्या यौवन में भी वे ही मनोभाव थे, यौवन में जो मनोभाव रहते हैं वे क्या वार्द्धक्य में भी वैसे ही रह जाते हैं ?

माता ने कहा—नहीं भगवन् !

तथागत ने पुनः पूछा—तो यश के नये परिवर्त्तन में विच्छेद क्यों अनुभव करती हो ?

माता ने कहा—यह तो समय के पहिले ही संन्यासी हो गया !

तथागत ने कहा—संन्यास आयु पर नहीं, चेतना पर निर्भर है।

माता ने पूछा—इस नये परिवर्त्तन में यह हमसे भिन्न क्यों जान पड़ता है भगवन् !

तथागत ने कहा—यह तुम्हारा मोह है जो इसे नये परिवर्त्तन में अपने अनुरूप न पाकर भिन्नता का अनुभव करता है। मोह में स्वार्थ है। यही यश यदि तुम्हारा पुत्र न होता तो क्या तुम अपनापन दे पातीं !

माता ने पूछा—तो फिर हम इसे किस दृष्टि से देखें भगवन् !

तथागत ने कहा—स्वार्थ पालतू बनाता है, प्राणी को अपनी ही जैसी स्वतन्त्र सत्ता में देखो तो अपने-पराये का भेदभाव नहीं रह जायगा, आत्मबोध ही जीव- बोध हो जायगा।

······प्रकाश से प्रपात से माता और वधू के मोहान्ध नेत्र खुल गये। तथागत ने जब उन्हें भव्य चित्त, मृदु चित्त, अनाच्छादित चित्त, आह्लादित चित्त, प्रसन्न चित्त देखा तब दुःख और उसकें समुदय (कारण), निरोध और दुःख-विनाश का उपाय बताया। जैसे कालिमा-रहित शुभ्र वस्त्र अच्छी तरह रंग पकड़ता है वैसे ही यश की माता और वधू कें नव निर्म्मल चित्त ने तथागत का उपदेश ग्रहण कर लिया।

धर्म्मचक्षु मिल जाने पर उन्होंने तथागत के चरणों में कृतज्ञता सर्मपित करते हुए कहा—आज से भगवान् हमें अपनी साञ्जलि उपासिकाएँ जानें।

तथागत ने कहा—शुभमस्तु !.........

काशी,
२।६।५८

[६]

पथ-निर्देश

अन्तरङ्ग सखा यश के प्रव्रज्यित हो जाने के सम्वाद से वाराणसी के श्रेष्ठियों-अनुश्रेष्ठियों के तरुण पुत्र चकित हो उठे। ऐश्वर्य्य, सौन्दर्य्य और यौवन के लाड़ले तथागत के उन चैतन्य चरणों के दर्शनों के लिए लालायित हो उठे जिन पर स्वर्ग भी न्यौछावर किया जा सकता है। कैसी होगी उन चरणों की नख-ज्योति जिसकी अपूर्व आभा से मणि-माणिक्य-मुक्ता भी निष्प्रभ हो गयी! ऋद्धि-सिद्धि जिनकी दासियाँ थीं उन सौभाग्यशाली कन्दर्पकुमारों ने अनुमान किया—वह धर्म-विनय छोटा न होगा, वह प्रव्रज्या छोटी न होगी जिसमें प्रदीक्षित होकर यश ने सांसारिक सुख-सम्पदा को तुच्छ कर दिया।

अब तक वे चक्षुओं के रूप-राग और इन्द्रियों के राग-रङ्ग में आत्मविस्मृत थे, फिर भी अतृप्त थे। यश ने प्रव्रज्या लेकर मानों वस्तु-स्थिति का उद्‌घाटन कर दिया—

"वाडव ज्वाला सोती थी
इस प्रणय-सिन्धु के तल में
प्यासी मछली-सी आँखें
थीं विकल रूप के जल में।"

समवेदना से उन्हें आत्मनिरीक्षण का सुअवसर मिला। उन्होंने अनुभव किया—ओह, जीते-जी हम किस चितानल में जल रहे हैं!

..........आत्मोद्धार के लिए वे छटपटाने लगे। शान्तिलाभ के लिए सारनाथ जा पहुँचे।

विश्रामोपरान्त अपराह्न में यश ने तथागत से निवेदन किया—मेरे पूर्वसहचर नागरिक मित्र विमल, सुबाहु, पूर्णजित्, गवाम्पति,

भगवान् के चरण-सान्निध्य के लिए आये हुए हैं। आपके आदेश की प्रतीक्षा में हैं।

तथागत ने कहा—उन्हें सप्रेम उपस्थित करो सौभद्र !

आदेश पाकर उन सन्तप्त चकोरों ने तथागत के चरणों में प्रणत होकर आश्वस्ति की साँस ली।

महापरिव्राजक ने सब पर वात्सल्य की अमृत दृष्टि डाल कर कहा—तुम्हें क्या कष्ट है आवुसो !

विमल ने कहा—हम लोगों का जीवन अङ्गार हो गया है प्रभो !

तथागत ने पूछा—यह क्यों आवुसो !

सुबाहु ने कहा—जिस रूप-राग और राग-रङ्ग को रसाल की तरह मधुर समझ कर अपनाया वह तो आग की तरह प्रखर हो गया भगवन् ! बुभुक्षा शान्त नहीं हो रही है, वह तो आग-पर-आग माँग रही है। ज्यों-ज्यों बुभुक्षा प्रज्ज्वलित होती जा रही है त्यों त्यों तृष्णा भी बढ़ती जा रही है। इस ज्वालामुखी बुभुक्षा और कुण्ठितकण्ठा उत्कण्ठिता तृष्णा से हम परित्राण चाहते हैं करुणामय !

तथागत ने कहा—तुम्हारी विकलता स्वाभाविक है तरुणो ! किसी न किसी दारुण सन्ताप से सभी सांसारिक जन विकल हैं, किन्तु कोई तो स्वास्थ्य-लाभ कर फिर अपथ्य की ओर चला जाता है, कोई परिणामदर्शी होकर सुपथ्य का सम्बल लेता है। तुम लोग अपनी वेदना से क्षणिक शान्ति चाहते हो या चिरन्तन मुक्ति ?

पूर्णजित् ने कहा—भगवन्, हम बहुत भोग चुके; हमें भुक्ति नहीं, मुक्ति चाहिये।

तथागत ने कहा—भुक्ति की तरह मुक्ति भी तुम्हीं लोगों की धारणा और संकल्प-शक्ति पर निर्भर है।

गवाम्पति ने जिज्ञासा की—कैसे भगवन् !

तथागत ने कहा—जो प्रेरणा आसक्ति की ओर उन्मुख हुई थी उसे धृति और संकल्प की ओर मोड़ दो। सोचो, किसके शान्त होने पर हृदय परम शान्त हो जाता है ? रागरूपी अग्नि के शान्त होने पर

द्वेष-अग्नि शान्त हो जाती है। द्वेष-अग्नि के शान्त होने पर मोह-अग्नि शान्त हो जाती है। मोह-अग्नि के शान्त होने पर अहङ्कार शान्त हो जाता है। अहङ्कारादि कषायों के शान्त होने पर प्राणी परम शान्त होता है।

आवुसो ! यही मेरी सम्बोधि है, आचरण-द्वारा इसी की साधना निर्वाण है। यदि रुचे तो तुम लोग भी इस सम्बोधि और साधना को अपना सकते हो।

तथागत की शान्ति-वाणी से उन सन्तप्त चकोरों को ऐसा जान पड़ा मानों चन्द्रमा की शीतल किरणों ने अमृत से उनके प्रज्ज्वलित जीवन को सिञ्चित कर दिया। उस हिमांशु की आत्मस्थता पा जाने के लिए उन्होंने समवेत् प्रणत होकर निवेदन किया—हमें भी नवजीवन की दीक्षा देकर कृतार्थ करें अमिताभ !

तथागत ने कहा—आवुसो ! धर्म्म सु-आख्यात है, उसका द्वार सबके लिए खुला है। आओ, दुःख के क्षय के लिए ब्रह्मचर्य्य का पालन करो।

वे आर्त्त तरुण उपसम्पदा और प्रव्रज्या लेकर तथागत के अनुगत हो गये, मानों पुनर्जन्म लेकर नवल निर्विकार शिशु हो गये।

अब तक जिन लोगों का यश से सांसारिक सम्बन्ध था वे लोग उसकी प्रव्रज्या से प्रभावित होकर आध्यात्मिक सम्बन्ध जोड़ने के लिए उत्सुक हो उठे। यश के पचास ग्रामवासी परिजन तथागत के शरणागत हुए। महापरिव्राजक ने उन्हें भी ताप-शान्ति के लिए वही सात्त्विक उपदेश दिया। बुद्ध के वचनों से उन्हें अनवतप्त सरोवर (मानसरोवर) में तीर्थ-स्नान की-सी सद्यःशान्ति मिली। वे उपसम्पदा का व्रत लेकर चिरशान्ति के लिए प्रव्रज्यित हो गये।

स्नातकों की संख्याबृद्धि हो जाने पर तथागत ने सोचा—जो चैतन्य है वह एक ही स्थान पर स्थाणुवत् अचर कैसे रह सकता है ! उसे तो गतिशील होना चाहिये, अन्यथा वह एकान्त स्वार्थ से (व्यक्तिगत मोक्ष अथवा आध्यात्मिक प्रमाद से) जड़ हो जायगा। उन्होंने स्नातकों

तथागत ने कहा—तुम्हारी जागरूकता ही तुम्हें पथभ्रष्ट नहीं होने देगी आवुसो ! संसार में अगणित मत-मतान्तर हैं, तुम किसी के अन्ध-विश्वासी मत बनो। मत तुम अनुश्रव से, मत परम्परा से, मत पूर्वाग्रह से, मत पिटक-सम्प्रदान से, मत वक्ता के व्यक्तित्व से, मत पक्षपात से, मत मेरे प्रभाव से अपने विचार निश्चित करो। तुम्हें मतों का मोह न हो, सत्य की जिज्ञासा हो।

'भवथ अत्त सरणा
भवथ अत्त दीपा'

अपने विवेक की शरण लो, अपना दीपक आप बनो, तभी ज्योति से ज्योति जला सकोगे, दूसरों को भी प्रकाश दे सकोगे।

उन्मुक्त चित्त से शास्ता का आदेश-निर्देश शिरोधार्य्य कर विश्व-शान्ति के वे स्वयंसेवक विविध दिशाओं में चल पड़े।

काशी,
६।६।५८

समर्पण

शिष्यों के विदा हो जाने पर शास्ता स्वयं भी चारिका के लिए उरुबेला (बुद्धगया) की ओर चला। बोधिसत्त्व होने के पूर्व महापरिव्राजक ने जिन-जिन वरिष्ठ तपस्वियों और उनके आश्रमों का अनुभव प्राप्त किया था उन सभी तपस्वियों और आश्रमों को अपना बोधित्त्व प्रदान किया। कई तपस्वी दिवङ्गत हो गये थे, जो शेष थे वे शान्ति-लाभ के लिए प्रत्यागत तथागत के अनुयायी हो गये।

उरुबेल काश्यप अपने अञ्चल का प्रभावशाली महन्थ था, वह जटाधरी साधुओं का शिरोमणि था, तथागत के आगमन से वह उद्विग्न हो उठा। उसने सोचा—यदि महाश्रमण ने जन-समुदाय में अपना चमत्कार दिखलाया तो इसका लाभ-सत्कार बढ़ जायगा, मेरा लाभ-सत्कार घट जायगा।

शिष्टाचार-वश उसने प्रत्यक्ष रूप से महाश्रमण की उपेक्षा नहीं की, किन्तु अपने प्रभाव-क्षेत्र से दूर रखने के लिए अरक्षित स्थानों में टिक जाने दिया। ज्वाला और जलप्लावन में भी जब महाश्रमण वैसे ही सुरक्षित रहा जैसे पञ्चभौतिक शरीर में प्रकृतिस्थ जीव (माया में स्थितप्रज्ञ प्राणी), तब उरुबेल काश्यप का अहङ्कार पराजित हो गया। उसे ऐसा जान पड़ा—यह महाश्रमण दिव्यशक्तिधारी है, इसकी दिव्यशक्ति का अंशमात्र भी मेरे समस्त प्रभाव और वैभव से अधिक मूल्यवान है। उत्तम को छोड़ कर निकृष्ट में लिप्त रहना मूढ़ता है।

पश्चाताप से अनुतप्त होकर वह महाश्रमण के चरणों में गिर पड़ा। उसने सविनय निवेदन किया—भन्ते ! मुझे भी भगवान से प्रव्रज्या मिले, उपसम्पदा मिले।

भगवान् ने कहा—काश्यप, तू पाँच सौ जटिलों का नायक है, उनकी भी अनुमति प्राप्त कर ले।

उरुबेल काश्यप ने उन जटिलों को अपनी इच्छा बतला कर जब उनकी इच्छा जानना चाहा तब उन्होंने कहा—जो आपकी इच्छा, वही हमारी भी इच्छा। यदि आप महाश्रमण के पास ब्रह्मचर्य्य-चरण करेंगे तो हम सभी महाश्रमण के पास ब्रह्मचर्य्य-चरण करेंगे।......

अपने नायक के साथ वे सभी महाश्रमण से प्रव्रज्यित होकर निर्जटिल हो गये।

अपने बड़े भाई उरुबेल काश्यप के प्रव्रज्यित हो जाने की सूचना पाकर नदी काश्यप अपने तीन सौ जटिलों के साथ और गया काश्यप अपने दो सौ जटिलों के साथ महाश्रमण से प्रव्रज्यित हो गया।

उस समय वैभव और अभाव में सारा संसार बाहरी सुख-दुख का अनुभव कर रहा था, किन्तु भीतरी विकारों (राग-द्वेष, लोभ-तृष्णा) के कारण वैभव भी अभिशप्त था, अभाव भी अभिशप्त था; सुख-दुख असन्तुलित चित्त-वृत्तियों का वैषम्य था। आवाल-वृद्ध-वनिता सभी का जीवन सन्तप्त था। सभी चातक की तरह तृष्णार्त्त थे, किन्तु अमृत का अन्तःस्रोत नहीं मिल रहा था। दिग्भ्रमित होकर सभी मृगमरीचिका में भटक रहे थे।......

तभी उस विषण्ण वातावरण के नेपथ्य में महाश्रमण और उसके भिक्षुओं की सात्त्विक पदचाप सुनायी पड़ी। अभिशप्त प्राणी तथागत का शरणागत होने के लिए आतुर हो उठे।......

मगधराज बिम्बसार अपने राज-समाज के साथ महाश्रमण के चरणों में आ उपस्थित हुआ। वह तथागत का पूर्वपरिचित भक्त था। सम्बोधि का सार ग्रहण कर साञ्जलि उपासक हो गया। महाश्रमण और उसके भिक्षुओं के विहार के लिए उसने अपना वेणुवन समर्पित कर दिया।

राजगृह में साधुओं का एक महन्त सञ्जय रहता था। उसके दो प्रमुख शिष्य थे—सारिपुत्र और मौद्गल्यायन। साधुओं के अखाड़े में

उनका मन नहीं लगता था। उन्होंने आपस में प्रतिज्ञा की थी, जो पहिले अमृत प्राप्त करे वह दूसरे को बताये।

एक दिन पूर्वाह्न में तथागत का आयुष्मान शिष्य अश्वजित् भिक्षाटन कर रहा था। उसकी संयमित गति और भावानुकूल सङ्कुचित-प्रसारित-उन्मीलित दृष्टि देख कर सारिपुत्र आकृष्ट हो गया। उसके अवलोकन-विलोकन-प्रत्यवलोकन म सांस्कृतिक कलाभङ्गिमा थी।

भिक्षाटन से लौटते समय सारिपुत्र ने अश्वजित् के समीप जाकर कहा—आवुस ! तेरी इन्द्रियाँ प्रसन्न हैं, तेरी कान्ति शुद्ध और उज्ज्वल है, तू किस दिव्यात्मा का शिष्य है ? तेरा शास्ता कौन है !

अश्वजित् ने कहा—महाश्रमण तथागत मेरे शास्ता हैं।

सारिपुत्र ने पूछा—आयुष्मान के शास्ता किस सिद्धान्त को मानते हैं ?

अश्वजित् ने कहा—मैं अभी नया स्नातक हूँ। विस्तार से अपने धर्म्म का सिद्धान्त नहीं समझा सकता।

सारिपुत्र ने कहा—संक्षेप में ही बतलाओ आयुष्मान् ! मुझे तो सार मात्र चाहिये। चातक के लिए एक बूँद भी पर्य्याप्त है।

अश्वजित् ने तथागत के शान्तिमन्त्र से उसके अन्तःकरण को अभिषिक्त कर दिया। मर्म्म-विन्दु पाकर सारिपुत्र भीतर से उद्भिज्ज हो उठा। सन्तुष्ट चित्त से वह मौद्गल्यायन के पास गया।

मौद्गल्यायन ने उसे प्रफुल्ल देख कर कहा—सखे ! तेरी इन्द्रियाँ प्रसन्न हैं, तेरा मुख प्रकाशमान है, तूने अमृत तो नहीं पा लिया !

सारिपुत्र ने कहा—हाँ सखे ! अमृत पा लिया।

मौद्गल्यायन ने आश्चर्य्यान्वित होकर पूछा—कैसे, किससे तूने अमृत पा लिया आवुस !

सारिपुत्र ने उस शुभ नक्षत्र का उल्लेख किया जिसके पुण्ययोग से सीप-सी सम्पुटित आत्मा मुक्ता (मुक्त चेतना) हो गयी। मौद्गल्यायन ने उत्साहित होकर कहा—आओ आवुस ! हम अमृतायन तथागत की शरण में चलें।......

उन दोनों को जाते देख कर मठाधीश सञ्जय ने प्रलोभन दिया—

यहाँ का मौज-मजा छोड़ कर कहाँ जाते हो मूर्खो, आओ हम लोग मिल कर अपने गणों की महन्ती करें।

बिना पीछे देखे वे दोनों आगे बढ़ते चले गये। सञ्जय की वर्जना छूछे बादल की गर्जना की तरह निष्फल हो गयी।

तथागत ने उन दोनों को आते दूर से देख कर भिक्षुओं से कहा—अहा, इनका चित्त कितना निर्म्मल जान पड़ता है, निश्चय ये मेरे अग्र-गण्य श्रावक होंगे।

सन्निकट आकर वे दोनों तथागत के चरणों में वैसे ही समाहित हो गये जैसे शशि की शुभ्र किरणों में प्रमुदित कुमुद।

काशी,
१५।६।५८

[८]

सान्त्वना

सिद्धार्थ के निष्क्रमण के बाद यशोधरा जब ब्राह्म बेला में जगी तब प्रियतम की शय्या सूनी देख कर स्तम्भित हो गयी। वह अपने-आपको कोसने लगी——

"अब जागी——अरी अभागी !
अब जागी? खोने को सोई
अब रोने को जागी !"

कितने स्वप्नों में चौंक-चौंक कर जिसे उसने पलकों में बाँध लिया था अन्ततोगत्वा वह निर्गुण माया-मोह छोड़ कर चला ही गया।

आर्य्या (महाप्रजावती) कहती हैं, वे बचपन से ही विरागी थे। फिर कैसे वे अनुरागी हो गये? कदाचित् पूर्वजन्म की उनकी कोई रागात्मक प्रेरणा शेष रह गयी थी, वही मुझे सौभाग्यवती बना गयी।

जो चला गया वह जाकर बीते दिनों को पुनः जीवन्त कर गया। आँखों के सामने अतीत की कितनी ही मधुर स्मृतियाँ साकार हो उठती हैं।·········

समय ने कितने पट-परिवर्त्तन कर दिये, किन्तु मेरे अन्तर्पट पर आज भी वह प्रथम दर्शन अक्षय अनुभूति की तरह अङ्कित है—

"मधु राका मुसक्याती थी
पहले देखा जब तुमको
परिचित-से जाने कबके
तुम लगे उसी क्षण हमको"

स्वयंवर के बाद जब हम दो तन एक प्राण हो गये तब हृदयोल्लास कितनी क्रीड़ाओं में तरङ्गित हो उठा था, कितने कलरवों में मुखरित

हो उठा था, वह पुलिनों की तरह शरीर को रस प्लावित कर निःशरीर हो गया था—

"सोयेगी कभी न वैसी
फिर मिलन-कुञ्ज में मेरे
चाँदनी शिथिल अलसाई
सुख के सपनों से मेरे।"

उन दिनों चित्र ही हमारी भाषा हो गया था, सङ्गीत ही हमारी वाणी हो गया था। प्रेम की तरह इन्द्रियाँ भी मूक हो गयी थीं, कला ही जीवन की अभिव्यक्ति बन गयी थी।

कभी-कभी राज्योद्यान की पुष्करिणी में हम नौका-विहार करते थे। मैं पतवार पकड़ती, वे डाँड़ सँभालते। मैं तो निमित्त मात्र थी, कर्णधार तो वे ही थे। उन्हीं के सङ्केतों से पतवार घुमाती थी। वे ही जीवन-नौका को गति देते थे, वही गति को मोड़ देते थे। गति के आवेग से जब मैं गिरने-गिरने हो जाती तब पतवार छूट जाती, वे डाँड़ छोड़ कर अपने अङ्क में आश्रय देते।

पुष्करिणी में कमल ऐसे जान पड़ते मानों किसी रसवन्ती के मधुर मनोहर भाव ही अपनी सजीवता से प्रत्यक्ष हो गये हों। उन्हें अपना शृङ्गार बनाने के लिए जब मैं तोड़ लेना चाहती तब वे द्रवित चित्त से बोल उठते—किसी का सुख मत छीनो। चाहो तो तुम भी जलक्रीड़ा से पुष्करिणी की शोभा बढ़ा सकती हो।

.........हम दोनों सरोवर में रस-विहार करने लगते। प्रेम की उर्म्मियों से तरङ्गित जल परस्पर उछाल-उछाल कर खिल-खिल खिल-खिला पड़ते वह हास-परिहास-उल्लास वातावरण को मधु-गुञ्जित कर देता, दिग्वधुओं के नूपुर झंकृत कर देता।

और आज ?—

"इतना सुख ले पल भर में
जीवन के अन्तस्तल से

तुम खिसक गये धीरे से
रोते अब प्राण विकल-से ।"

वे कैसे छलिया थे ! एक दिन चित्रसारी में खड़ी-खड़ी मैं उनका चित्र देख रही थी । न जाने कब चुपक-से पीछे से आकर उन्होंने मेरी आँखें मूँद लीं । क्या मैं विना देखे ही उन पाणिपल्लवों को पहिचान नहीं सकती थी ! किन्तु उनकी लीला तो देखो, ज्यों ही मैं उनके साक्षात्कार के लिए मुड़ी त्यों ही वे अपने हाथ हटा कर फिर पीछे जाखड़ हुए। जब मैं फिर मुड़ी तब वे सामने दिखाई नहीं पड़े, अचानक कहाँ छिप गये !

अब सचमुच कहाँ छिप गये ? कहाँ चले गये ?

एक दिन शयन-कक्ष में दीपक की ओर देख कर उन्होंने कहा—प्रकाश देने के लिए यह कबसे जल रहा है ! इसका प्रतिपल अतीत होता जा रहा है ! अपने वर्त्तमान में यह कितने अतीत को सँजोये हुए है, विना अतीत को जाने हम इसके पूर्ण अस्तित्त्व को नहीं जान सकते । यह दीपक जन्म-जन्म के सुख-दुख का कितना इतिहास लिये जलता आ रहा है !

मैंने पूछा—जब इसका प्रतिपल अतीत होता जा रहा है तब किसे इसका वर्त्तमान कहें, किसे इसका भविष्य ?

उन्होंने कहा——भूत, वर्त्तमान, भविष्य, यह सब वैकल्पिक काल-विभाजन हैं । कोई भी त्रिकाल एक क्षणिक निश्वास मात्र है । काल की अनन्तता उसकी क्षणभङ्गुरता की ही लम्बी करुण कहानी है । इस क्षणभङ्गुरता में जिस क्षण जो अपना कर्त्तव्य सम्पन्न कर दे उसका वही क्षण अमृत हो जाता है, काल उसे कवलित नहीं कर पाता । एक जन्म में कर्त्तव्य पूरा न होने पर फिर नया जन्म लेना पड़ता है । कर्त्तव्य पूरा हो जाने पर मोक्ष हो जाता है ।………

कितने निशीथों की नीरवता में उन्होंने मुझे अपनी कितनी ही कहानियाँ सुनायी थीं । आह ! कितने वर्गों, कितने वर्णों, कितनी योनियों में जन्म लेते हुए मेरे प्राणवल्लभ मुझे इस जन्म में मिले थे !!

एक दिन उन्होंने कहा था—प्रिये ! पूर्व जन्म में तू मेरी राधा थी, मैं तेरा चितचोर था। तेरा अथाह विरह-क्रन्दन मुझे फिर इस भव-सागर में खींच लाया।

आज भी तो मैं विरह-क्रन्दन कर रही हूँ। क्या मेरे आँसू उन्हें फिर खींच नहीं लायेंगे ! अरे, मैं यह क्या कह रही हूँ ! अपने लिए मैं उन्हें शेष सृष्टि से विमुख कर देना चाहती हूँ !! यही यदि प्रेम है तो स्वार्थ किसे कहते हैं !—

"उनके श्रम के फल सब भोगें
यशोधरा की विनय यही,
मैंने ही क्या सहा, सभी ने
मेरी वाधा-व्यथा सही।"

आजीवन क्या मैं प्रेमिका और नववधू ही बनी रहूँगी ! यह देखो, वे मेरे अञ्चल में अपना कैसा दायित्त्व दे गये हैं—राहुल। विश्व को वात्सल्य देने के लिए वे जिस साधना के पथ पर चले गये वही साधना मेरे लिए गृह में सुलभ कर गये।

अब क्या साज-शृङ्गार और अलङ्कार मुझे शोभा देंगे ! प्रणय में जिसकी मैं समभागिनी थी, संन्यास में भी मैं उसकी सहयोगिनी बनूँगी। ओ साधक, युग-युग को शान्ति देने के लिए तेरी साधना सिद्ध हो—

"निर्म्मम जगती को तेरा
मङ्गलमय मिले उजाला
इस जलते हुए हृदय की
कल्याणी शीतल ज्वाला।

...   .

इस स्वप्नमयी संसृति के
सच्चे जीवन तुम जागो
मङ्गल किरणों से रञ्जित
मेरे सुन्दरतम जागो।"

काशी,
२२।६।५८

[९]

वात्सल्य

राजा शुद्धोदन राज-पाट रहते हुए भी पुत्र-वियोग से मानों निर्धन हो गया था। सिद्धार्थ के लिए जब वह विकल विक्षिप्त हो उठता तब यशोधरा ढाढ़स देती—आर्य्य ! धैर्य्य धर, सबके जीवन-धन करुणाघन यथासमय इधर अवश्य पधारेंगे। जो सबके प्रति सदय हैं वे अपनों के प्रति निर्दय कैसे हो सकेंगे ! जलद अपने जन्मस्थान जलाशय में भी तो बरसता है।

राजा ने कहा—सुशीले, यह उदार भावना तुम्हारी कुलीनता के अनुरूप है। वियोग से व्यथित होते हुए भी तुम्हारी तरह मैं भी धीरज धर सकता हूँ, किन्तु मेरी सबसे बड़ी चिन्ता यह है कि देस-परदेस में न जाने वह कहाँ कैसे होगा ! सोचो, यदि राहुल ही घर से चला गया होता तो तुम्हारी क्या दशा होती !

अश्रुओं में उद्वेलित हो उठने के लिए आकुल हृदय को संयत कर यशोधरा ने कहा—तात, वे राहुल की तरह अबोध नहीं हैं।

राजा ने कहा—मेरे लिए वह अब भी अबोध है। बचपन की तरह ही उसे अपने तन-वदन की सुध-बुध नहीं है। अपने साथ वह कुछ भी तो नहीं ले गया।

यशोधरा ने कहा—तात, आप चिन्ता न करें, आर्य्यपुत्र जहाँ कहीं जैसे भी होंगे आपके आशीर्वाद से सकुशल होंगे।......

एकाएक राहुल किलक उठा—मा, देखो वह अज्जी आ रही हैं !

झट से यशोधरा के आँचल में लिपट कर वह चञ्चल समीर की तरह छिप गया।

श्रान्त गति से आकर महाप्रजावती ने पूछा—बहू, राहुल कहाँ

है ? खेलते-खेलते अपने खिलौने मुझे सौंप कर दूध पीने के लिए वह इधर ही तो आया था।

राहुल ने धीरे से कहा—मा, बताना मत।

अज्जी की परेशानी देखने के लिए यह आँचल में से तनिक झाँक कर फिर छिप गया।

पितामह शुद्धोदन यह आँखमिचौनी देख कर मुस्करा पड़े।

राहुल आँचल में छिपा था, लेकिन उसके अनढँके पैर बाहर मचल रहे थे। महाप्रजावती ने पास जाकर उसके तलवों को सहलाते हुए कहा—क्यों रे नटखट, मैं तुझे वहाँ जोह रही हूँ, तू यहाँ ढुका है!

तलवों की सहलाहट से राहुल अपनी गुदगुदी नहीं रोक सका, विह्वल होकर आँचल से बाहर आकर खिलखिला पड़ा। उसे हृदय से लगाने के लिए अज्जी ने ज्योंही अपनी बाँहें फैलायीं त्योंही राहुल गेंद की तरह उछल कर पितामह के पास चला गया।

अज्जी ने कहा—आओ बेटा, मैं तुम्हें सात समुद्दर पार की फूल-कुमारी की कहानी सुनाऊँगी।

राहुल ने रूठ कर कहा—उहुँ, तुम कहानी कहाँ सुनाती हो, खिलौने थमा कर मुझे ही देखती रहती हो, न जाने क्यों गुमसुम हो जाती हो!

अज्जी ने कहा—अरे, आज जरूर कहानी सुनाऊँगी। आओ राजा बेटा, आओ।

पितामह ने कहा—क्यों बेटा, कहानी सुनोगे या बगीचे में झूला झूलोगे ?

राहुल ने सोचा—अज्जी के कमरे में न तो फूल हैं, न पत्ते हैं, न चिड़ियाँ हैं। वह बोल उठा—बगीचे जाऊँगा, फूल सूँघूँगा, झूला झूलूँगा, चिड़ियों की बोली सीखूँगा।......

यशोधरा और महाप्रजावती मुस्करा पड़ीं।

पितामह ने हर्षित होकर कहा—तो आओ बेटा, हम लोग चलें।

वह फुदक कर अपने पितामह के कन्धे पर किसी लघु शिखर की तरह बैठ कर चला गया ।

काशी,
२४।६।५८

[१०]

परितोष

अपनी अटारी पर बैठी यशोधरा ने आकाश में उड़ते हुए पक्षियों की ओर देख कर कहा—हे दिग्पर्य्यटक ! तुममें से यदि किसी को आर्य्यपुत्र दिखाई दें तो उनसे कहना, कपिलवस्तु में राजा से लेकर प्रजा तक तुम्हारे दर्शनों के लिए तरस रही है। तनिक अपने बसेरे की भी सुध लो।

खिड़की पर आकर एक कपोत चुपके से कुछ बोल उठा। यशोधरा का वाम नेत्र कपोत-पङ्ख की तरह ही फड़क उठा। दासी मधूलिका ने प्रफुल्ल चित्त से आकर नतमस्तक होकर निवेदन किया—स्वामिनि, ससागरा पृथ्वी का भ्रमण करते हुए त्रपुष और भल्लिक नाम के दो बड़े व्यापारी नगर-तोरण के पास पान्थनिवास में ठहरे हुए हैं। दुर्लभ रत्नों से भी श्रेष्ठतम यह सम्वाद वे ले आये हैं कि मार्ग में आर्य्या के जीवन-धन को उन्होंने देखा है। पुरवासी दोनों व्यापारियों को घेर कर आर्य्यपुत्र का कुशल-क्षेम ले रहे हैं।

इस संवाद-सूत्र से यशोधरा को असीम शून्य में आशा का छोर मिल गया। उसके तन-मन-नयन नूतन स्पन्दन से रोमाञ्चित हो उठे। उसने पूछा—महाराज़ को यह समाचार मालूम है ?

दासी ने कहा—हाँ आर्य्ये, उन्होंने पूर्णवृत्त जानने के लिए व्यापारियों को बुलाया है।

......व्यापारियों ने जब राजदरबार में आकर प्रणति दी तब शुद्धोदन ने पूछा—क्या सचमुच तुम लोगों ने सिद्धार्थ को देखा है ?

भल्लिक ने कहा—हाँ महाराज, उनके दर्शन कर हम लोगों ने इन आँखों को धन्य किया है।

शुद्धोदन ने पूछा—वह कुशल-क्षेम से है न ?

त्रपुष ने कहा—सांसारिकों के कुशल-क्षेम और देवताओं के स्वर्ग-सुख से ऊपर उठ कर वे स्वयं सबके कुशल-क्षेम हो गये हैं। उन्होंने वह माङ्गल्य पा लिया है जो त्रिलोक और त्रिकाल का कल्याण कर सकता है। वे बोधिसत्त्व लाभ कर बुद्ध हो गये हैं। परिभ्रमण करते हुए सबको माङ्गल्य का प्रसाद दे रहे हैं।

राजा ने आश्चर्य्यचकित होकर पूछा—क्या वह वही है जिसके वियोग में हम लोग विकल हैं ! तुम लोगों ने ठीक से देखा-पहिचाना है ?

राजा की गोद में बैठे हुए राहुल की ओर देख कर भल्लिक ने कहा—हाँ महाराज, वयस्क हो जाने पर भी उनके मुखमण्डल पर इन्हीं बालहंस-जैसा शैशव है।

राजा ने पूछा—वह इस समय कहाँ है ?

त्रपुष ने कहा—वे इस समय राजगृह के वेणुवन में विहार कर रहे हैं। द्वार-द्वार जाकर वे भिक्षा लेते हैं, शिक्षा देते हैं। उनके साथ शताधिक भिक्षुशिष्य हैं। स्वयं मगधराज बिम्बसार उनके साञ्जलि उपासक हो गये हैं।

शुद्धोदन का राजदर्प मर्म्माहत हो उठा—भिक्षा ! छिः, अपना राज रहते दूसरे के राज्य में वह भिक्षाचार कर रहा है !! दौवारिक, बुलाओ महामात्य को।

महामात्य ने सविनय उपस्थित होकर कहा—आज्ञा से अनुगृहीत करें महाराज !

राजा ने आदेश दिया—अश्वचालन में प्रवीण नवतरुण सामन्तों को द्रुतगति से राजगृह भेजो। मेरा शासन-(पत्र) देकर वे सिद्धार्थ से निवेदन करें, जहाँ आपका सब कुछ है वहाँ भी पधारें। माता-पिता-पुत्र-कलत्र-स्वजन-परिजन-पुरजन सब आपके दर्शनों के लिए लालायित हैं। वृद्ध पिता तो पतझड़ का पत्ता है, उसके धराशायी हो जाने के पहिले अपना वर्षों से ओझल श्रीमुख एक बार तो दिखला दें।

महामात्य प्रणिपातपूर्वक पत्र लेकर सत्त्वर चला गया। राजा उद्विग्न होकर सिंहासन के आस-पास चक्रमण करने लगा।

त्रपुष और भल्लिक भी उठ पड़े, राजा की आज्ञा लेकर ज्यों ही वे जाने के लिए उद्यत हुए त्यों ही यशोधरा की प्रतिहारी ने आकर उन दोनों से कहा—आप लोगों को आर्य्या बुला रही हैं।

स्वर्णपट से आवृत द्वार पर जब वे दोनों उपस्थित हो गये तब यशोधरा ने आत्मीयतापूर्वक कहा—तुम लोगों ने प्रिय का समाचार लाकर उपकृत कर दिया। आर्य्यपुत्र क्या इधर नहीं आयेंगे?

भल्लिक ने कहा—अवश्य आयेंगे देवि!

यशोधरा ने आश्वास्त होकर कहा—कब तक?

त्रपुष ने कहा—राजगृह यहाँ से साठ योजन दूर है। हम अपने शकट के साथ प्रतिदिन आठ कोस चल कर एक महीने में यहाँ पहुँचे हैं। प्रभ पर्वतों और कछारों के मार्ग से चारिका करते हुए चौमासे के पहिले यहाँ आ जायँगे।

यशोधरा को ऐसा जान पड़ा, इस शुभ संवाद में प्रियतम का हृदय ही पहिले आ पहुँचा। कृतार्थ होकर उसने व्यापारियों को पुष्कल पुरस्कार देना चाहा। त्रपुष ने कहा—देवि, वे तो प्राणिमात्र का उद्धार कर रहे हैं, यदि हमने उनका शुभ संवाद दे दिया तो क्या बड़ा काम कर दिया! इससे तो हमारी ही जिह्वा पवित्र हो गयी। जिन आँखों ने अमिताभ का दर्शन पा लिया उन्हें अब और कौन-सा धन चाहिये!

यशोधरा ने उनके सद्भाव से सन्तुष्ट होकर कहा—धन्यवाद।

काशी,
२६।६।५८

[११]

सम्मिलन

कपिलवस्तु के सामन्तों के नवतरुण पुत्र जिस समय राजगृह के वेणुवन में पहुँचे, तथागत प्रवचन कर रहे थे। तरुण भी प्रवचन सुनने में ऐसे तन्मय हुए कि उनका अब तक का सांसारिक अस्तित्त्व अतीत हो गया, पीछे छूट गया। राजा का आदेश चित्त से उतर गया। वे प्रव्रज्यित होकर तथागत के संघ में सम्मिलित हो गये।

पत्रोत्तर की प्रतीक्षा करते-करते जब राजा निराश हो गया तब उसने अन्य सन्देशवाहकों को भेजा। जो भी गया वह अमिताभ के प्रकाश में ऐसा विलीन हो गया कि उसे अपना पूर्वापर बिसर गया।

एक दिन अपने दरबारियों के बीच राजा बहुत उदास बैठा हुआ था। अब किससे कहे, क्या कहे! उसकी दृष्टि अपने अत्यन्त विश्वसनीय सचिव-पुत्र कालउदायी की ओर चली गयी। अँधेरे में एक अवलम्ब पाकर उसने कहा—आयुष्मान! सिद्धार्थ तुम्हारा समवयस्क सखा है, अपनी समवेदना से तुम मेरी मनोवेदना को समझ सकते हो। अपने बालसखा को बुला लाते तो ये आँखें निहाल हो जातीं।

कालउदायी ने सविनय कहा—तात! आपका आदेश शिरोधार्य्य है। मुझे यह भी आदेश दीजिये कि जिसके बचपन का साथी हूँ उसके संन्यास का भी साथी हो सकूँ, प्रव्रज्या ले सकूँ।

राजा ने कहा—चाहे जैसे भी हो, उसे अवश्य ले आओ वत्स!

·········राजगृह जाकर कालउदायी ने वेणुवन में देखा, उसका बालसखा कितना रूपान्तरित हो गया है! श्रीमुख पर पहिले से भी अधिक कितनी कान्ति है, कितनी शान्ति है! देहावरण को पार कर प्रकाशमान अन्तःकरण द्युतिमान हो रहा है, चीवर आलोक की किरणों से

बुने जान पड़ते हैं। वाणी से अमृत झर रहा है। वह भी एकाग्र होकर सुधा-पान करने लगा। तथागत के प्रवचन से प्रभावित होकर प्रव्रज्यित हो गया।

कालउदायी अपने बालसखा के मनोभावों का पारखी था। खेल-खेल में जैसे किसी विशेष अनुरञ्जन के लिए उन्हें उकसा देना जानता था वैसे ही आध्यात्मिक सत्सङ्ग में उनके संवेदन को भी जगा देना जान गया। एक दिन भिक्षाटन करते हुए उसका ध्यान प्राकृतिक वातावरण की ओर चला गया। उसने देखा—हेमन्त बीत गया, वसन्त आ गया। कृषकों ने शस्य काट कर रास्ता साफ कर दिया। पृथ्वी हरित तृणों से हर्षाच्छादिता है। वनप्रान्तर फूलों से प्रफुल्लित है, समीरण सुवासित है। मार्ग सुगम-मनोरम हो गया है। कपिलवस्तु जाने के लिए यह उचित समय है। उसने तथागत का प्राकृतिक अनुराग जगाने के लिए कहा—न बहुत शीत है, न बहुत उष्ण है, न अन्न का अकाल है, पृथ्वी की हरियाली आपके पदतलों के स्पर्श के लिए ललक रही है।

तथागत ने मुस्करा कर कहा—क्या है उदायी, किस लिए यात्रा का मधुर आकर्षण जगा रहा है!

उदायी ने निवेदन किया—भन्ते, आपके धन्यभाग्य पिता आपके दर्शनों के लिए विकल हैं। लोकसंग्रह के लिए अब आप अपने सजातीयों को भी कृतार्थ करने की कृपा करें।

तथागत ने सोचा—वाराणसी से चले पाँच मास बीत गये, अब यहाँ से चलना चाहिये। उदायी से उन्होंने कहा—भणे, तुमने ठीक स्मरण दिलाया। माता-पिता-पुत्र-कलत्र-स्वजन-परिजन के प्रति भी मेरा कुछ कर्त्तव्य है, मैं उनका भी ऋणी हूँ, उनसे उऋण हुए बिना लोक संग्रह अधूरा रह जायगा। भिक्षु-संघ से कहो, यात्रा के लिए प्रस्तुत हो।

उदायी को मानों वरदान मिल गया।

अपने विराट भिक्षु संघ के साथ तथागत कपिलवस्तु की ओर चल पड़े।

उनकी यात्रा का समाचार उनसे पहिले ही कपिलवस्तु पहुँच गया। पुरवासी तथागत के स्वागत के लिए शुभ आयोजन करने लगे—

"पुरदक्षिण-द्वार के पास घनो
अति चित्र-विचित्र वितान तनो—
जहँ तोरण खम्भन पै, बिगसे
नवमञ्जु प्रसून के हार लसे।
पट पाट के, कञ्चन तार भरे
बहु रंग के चारहु ओर परे,
शुभ सोहत बन्दनवार हरे,
घट मङ्गल द्रव्य सजाय धरे।
पुर के सब पङ्किल पन्थ भये
जब चन्दन-नीर सों सींचि गये
नवपल्लव आमन के लहरैं,
सुठि पाँति पताकन की फहरैं।"

यशोधरा प्रासाद की छत पर मयूरनी की तरह खड़ी होकर उस दिशा की ओर बाट जोहने लगी जिस दिशा से उसके जीवन-धन आने वाले थे। उत्साही पुरवासी पेड़ों पर चढ़ कर दूरदृष्टि से तथागत को हेरने लगे। राजा के साथ राजसमाज उस पुरद्वार पर प्रतीक्षा करने लगा जिसके चारों ओर रम्य न्योग्रोधाराम शोभायमान था, वहीं तथागत के शिष्यों को ठहराया जाने वाला था। आराम की दूसरी ओर अन्त्यजों की बस्ती थी, उपेक्षित।

एक दिन, दो दिन, प्रतीक्षा करते-करते लोगों के प्राण ओठों पर आ गये। फिर भी वे स्वागत के नये-नये साज सजाते रहे, न जाने किस मुहूर्त्त में वह तत्रभवान आ जाय।

तीसरे दिन अचानक एक दिव्य भिक्षु आता दिखाई पड़ा, उसके पीछे सहस्रों शिष्य मन्त्रजाप करते आ रहे थे—नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासंबुद्धस्स—

"शुद्ध, बुद्ध हों सब जन,
भेद-मुक्त निर्भय मन,
जीवित सब जीवन-क्षण,

स्वर्ग यही भूतल हो
मङ्गल चिरमङ्गल हो ।"

लोगों ने देखा—उस दिव्य भिक्षु के मुखमण्डल पर कैसी अपूर्व बुद्धश्री है ! अरे यह तो राजकुमार नहीं, भिक्षु नहीं, स्वयं कोई भगवान है । मन्दिरों में पूजा के घड़ी-घण्ट बज उठे । आबाल-वृद्ध-वनिता, राजा-प्रजा, सब दर्शनों के लिए उमड़ पड़े ।

राजा शुद्धोदन ने सोचा था, वह सीधे राज्य की ओर से प्रस्तुत स्वागत-मण्डप में आयेगा । किन्तु यह क्या ! वह तो अन्त्यजों की बस्ती में भिक्षा माँग रहा है, क्या उनसे भी दरिद्र है ! अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित होकर उसने तथागत से कहा—वत्स, यह कैसा वीभत्स व्यापार कर रहे हो ! क्या राजपुरुष को भिक्षा शोभा देती है !

तथागत ने पिता को प्रणति देकर कहा—अब मैं राजपुरुष नहीं, सभी उपाधियों से रहित एक मुमुक्षु जीव मात्र हूँ ।

राजा ने पूछा—फिर भिक्षा का क्या अभिप्राय है ?

तथागत ने कहा— भिक्षा लेकर मैं हिंसा पर आधारित आजीविका से पृथक हो जाता हूँ, प्रतियोगिता और प्रतिस्पर्द्धा में भाग नहीं लेता, समाज में उत्सर्ग की भावना जगाता हूँ ।

राजा ने कहा—यही बात कोई भी भिक्षु कह सकता है, उसकी भिक्षा और इस भिक्षा में क्या अन्तर है ?

तथागत ने कहा—सांसारिक जनों की तरह ही जो राग-द्वेष-लोभ के वशीभूत है उसकी भिक्षा तामसिक है, उससे समाज का सत्त्वोद्रेक नहीं हो सकता । वह धर्म्म की ओट में निरीहों को ठगता है और शोषकों को आशीर्वाद देता है । समाज की दुर्बलताओं से स्वार्थ सिद्ध करता है ।

राजा ने सोचा—यह स्थान और समय विवाद के उपयुक्त नहीं है । उसने अपने को सँभाल कर कहा—दूर से तुम थके हुए आ रहे हो, इस समय तुम प्रासाद में चलकर विश्राम करो, तुम्हारे सुचित्त होने पर फिर बातचीत होगी ।

तथागत ने कहा—मैं सदैव सुचित्त हूँ तात, सम्प्रति मेरा जो

आजीव (भिक्षान्न) है उसे प्राप्त कर आराम में लौट जाऊँगा। कल आपके द्वार पर भिक्षा के लिए आऊँगा।

राजा ने कहा—तुम्हारा ही तो राजपाट है, चाहे अपना समझ कर चाहे भिक्षा समझ कर ले लेना।

तथागत ने कहा—मुझे राजपाट नहीं चाहिये, मुझे आपका आपा चाहिये, उसे ही लेने आऊँगा तात !

'आपा' : यह कैसी नयी बात ! राजा को भान हुआ—जिस पुत्र को देखना चाहता था, यह तो वह नहीं है; इसके भीतर तो कोई नया प्राणी बोल रहा है। कैसे किस भाषा में इसे सम्बोधित करूँ ! उसने निष्ठावान गृहस्थ की तरह सौम्य भाव से कहा—अतिथि, तुम्हारे लिए कुछ भी अदेय नहीं है। जैसे नूतन सजीवता से अपने शरीर को कृत-कृत्य कर रहे हो वैसे ही उस गृह को भी कृतार्थ कर देना।

तथागत ने कहा—वहाँ आकर मैं अपने को ही कृतार्थ करूँगा। सबके कल्याण में ही मेरा कल्याण है। यथासमय अवश्य उपस्थित होऊँगा।

राजा आश्वस्त होकर चला गया।

दूसरे दिन पूर्वाह्न में सारिपुत्र और मौद्गल्यायन के साथ तथागत राजप्रासाद की ओर चले। पथ के दोनों ओर खड़ी जनता जयजयकार कर रही थी। बच्चे फूलों की माला पहिनाने के लिए ललक पड़े। तथागत उनका माल्य स्वीकार कर फिर उन्हीं को पहिना देते थे, उन के मस्तक को प्यार से थपथपा देते थे। मकानों की खिड़कियाँ खोल कर कन्याएँ और कुलवधुएँ दुतल्ले-तितल्ले से फूल और खील बरसा रही थीं, तथागत के दर्शन से सफल-लोचन होकर हाथ जोड़ रही थीं। स्थान-स्थान पर पुजारी शङ्ख बजा कर अभ्यर्थना कर रहे थे, मानों मन्दिर का देवता लोकपथ पर आ गया था।

राजप्रासाद के द्वार पर स्वयं राजा और उसका राजसमाज स्वागत के लिए खड़ा था। तथागत के आते ही मङ्गल वाद्य बज उठा। गन्ध, पुष्प, चूर्ण से वातावरण आमोदित और पुनीत हो उठा। महा-

प्रजावती ने आगे बढ़ कर तथागत को अपने वक्ष से लगा लिया, तथागत ने झुक कर उनका चरणस्पर्श कर लिया। महाप्रजावती उनके कन्धे पर हाथ रख कर भीतर ले चलीं।

………बुद्धासन पर तथागत के प्रतिष्ठित हो जाने पर भरी सभा में राजा ने कल के सम्भाषण को आगे बढ़ाया। प्रथम दिन के स्वल्प वार्त्तालाप से उसका चित्त तथागत के अनुकूल हो गया था, तथापि पूर्ण समाधान नहीं हो सका था। उसने उनकी ओर उन्मुख होकर कहा-सुभग! तुम तो धैर्य्य में मेरु पर्वत से, दीप्ति में सूर्य्य से, वाणी में वृषभ से बढ़ कर हो; तुम्हें तो संन्यास का नहीं, शौर्य्य का प्रतिनिधित्व करना चाहिये, राजकुल को पृथ्वी जीतने के लिए प्रोत्साहन देना चाहिये।

तथागत ने कहा—महाराज, दोषों की विपक्षी सेना को पराजित कीजिये; उसके लिए राज्य, सम्पत्ति, अस्त्र और हाथी-घोड़े की जरूरत नहीं। दोषों को जीत लेने पर जीतने के लिए कुछ और नहीं रह जाता। जितेन्द्रियता ही सच्ची विजय है।

राजन्, संसार सदा नक्षत्र-मण्डल के समान घूमता रहता है। अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच कर देवता भी स्वर्ग से गिरते हैं, तब मानवी सत्ता पर कौन कितना भरोसा करे! उस निर्विकल्प पद को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये जिसमें न जन्म है, न मरण, न श्रम है, न दुःख।

राजा ने अनुभव किया—वृद्ध होकर भी ससांरिक सुख की जिस निस्सारता को वह अब तक नहीं देख सका, उसे इस परिव्राजक ने तारुण्य में ही देख-समझ लिया। वह अपनी दीर्घसूत्रता पर लज्जित हो उठा। उसका सुप्त अन्तःकरण जाग उठा। अब वह न राजा था, न पिता था; रह गया विदेह प्राणी। तथागत के चरणों में प्रणत होकर उसने कहा—अग्रेय! आप तो वही हैं जो मुझे होना चाहिये। मैं पहिले पृथ्वी को जीत कर अपनी और सबकी दुःखबृद्धि में आनन्द पाता था, सुगत! आपने उस मिथ्या आनन्द के महादुःख से मुझे उबार लिया।

तथागत ने प्रसन्न होकर कहा—तात, मैंन आपका आपा (चैतन्य) पा लिया, मेरी भिक्षा सफल हो गयी।

महाप्रजावती ने स्नेह-विह्वल होकर कहा—वत्स, गृहस्थ की भिक्षा भी प्रस्तुत है, भोजन ग्रहण कर पाकगृह को पवित्र करो।

तथागत ने कहा—मातेश्वरी, गोपा (यशोधरा) कहाँ है ? वह यहाँ दिखाई नहीं देती !

महाप्रजावती ने हँस कर कहा—वह क्या भिक्षु की भिक्षुणी है जो अपने आप यहाँ चली आयेगी। कहती है, आर्य्यपुत्र को जाते समय मेरी अनुमति की आवश्यकता नहीं थी, किन्तु मैं कुलवधू उनकी आज्ञा के बिना कहाँ आ-जा सकती हूँ !

तथागत ने मुस्करा कर कहा—लो, मैं ही उसके पास चलता हूँ।

महाप्रजावती ने कुल गौरव से गम्भीर होकर कहा—चलो, वही अभ्यागतों का आतिथ्य करेगी।.........

स्नान-ध्यान के बाद यशोधरा भोजन बना रही थी। नटखट राहुल उसका आँचल खींच-खींच कर अपने खेल में खींच ले जाना चाहता था। तन-मन से प्रसन्न यशोधरा ने ऊपरी अनुशासन से कहा—क्यों रे, तू तो पढ़ता भी है न, जानता है आज कौन दिन है ?

राहुल सोच में पड़ गया—आज कौन दिन है ! उसे याद नहीं, कैसे बताये। वह माँ का मुँह जोहने लगा।

यशोधरा ने प्यार से कहा—अरे, आज तो गुरु पूर्णिमा है, इतनी जल्दी भूल गया !

राहुल जैसे खोयी हुई चीज पाकर खिल उठा—हाँ-हाँ, आज गुरु पूजा है; तुमने कहा था, आज गुरु आयेंगे, पिता आयेंगे।

"तो जा आरती ले आ, माला ले आ, रोली-अक्षत ले आ।"—कह कर यशोधरा भोजन की व्यवस्था में लग गयी।......

सारिपुत्र और मौद्गल्यायन को साथ लेकर तथागत यशोधरा के द्वार पर जा पहुँचे।......

यशोधरा चरणों पर प्रणत हो गयी, इतने दिनों की व्यथा दो बूँद

आँसू में ढुलक कर अपनी सारी मौन व्यथा कह गयी। तथागत ने द्रवित होकर उसे हृदय से लगा लिया—अरे यह कितनी दुबली हो गयी है, दीपशिखा की वर्त्तिका मात्र रह गयी है। यह तो वही मूर्त्तिमती कृच्छ्र साधना है जिसने उपोषण में बोधिसत्त्व के शरीर को कृश और चेतना को परिशुद्ध कर दिया था।

प्यार से ठुड्डी पकड़ कर साधक ने जब साधना का मुख ऊपर उठाया तब वह संकोच से सिमट गयी—अरे, क्या इतने वर्षों का करुण इतिहास अब अनवगुण्ठित हो जायगा! तथागत ने कहा—

"दीन न हो गोपे, सुनो, हीन नहीं नारी कभी,
भूत-दया-मूर्त्ति वह मन से, शरीर से,
क्षीण हुआ वन में क्षुधा से मैं विशेष जब
मुझको बचाया मातृ जाति ने ही खीर से।
आया जब मार मुझे मारने को बार-बार
अप्सरा-अनीकिनी सजाये हेम-हीर से,
तुम तो यहाँ थी, धीर ध्यान ही तुम्हारा वहाँ
जूझा, मुझको पीछे देकर, पञ्चशर वीर से।"

राहुल अपरिचित अभ्यागतों को देख कर माँ के पीछे विस्मित और स्तब्ध खड़ा था। यशोधरा ने पीछे घूम कर उसे आगे कर दिया—बेटा, ये ही तुम्हारे पिता हैं, इन्हें प्रणाम करो, आरती करो।

'पिता : साधू के वेश में पिता!'—राहुल असमञ्जस में पड़ गया—'उसका पिता तो दादा की तरह ही राजा होना चाहिये! कैसे इस भिखारी को प्रणाम करे, आरती करे!'

यशोधरा ने उसकी दुविधा समझ कर कहा—बेटा, ये ही हमारे—तुम्हारे-सबके गुरु हैं, गुरुपूजा करो।

'गुरु?'—राहुल उत्साहित हो उठा। दासी सुपर्णा ने आरती लाकर उसके हाथ में दे दी। यशोधरा ने साञ्जलि स्तुति की—नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासंबुद्धस्स।

आरती घुमाते हुए राहुल ने दुहराया—नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासंबुद्धस्स ।

आरती पूरी कर वह पिता के चरणों में प्रणत हो गया । तथागत ने दुलार से उसे गोद में उठा लिया, अपने शैशव को पुनः पा लिया, उसके मस्तक पर रोली-अक्षत लगा दिया ।·········

भोजनोपरान्त तथागत जब चलने लगे तब माँ के कहने से राहुल ने पीछे-पीछे आकर कहा—तात, मुझे अपना दायज दें ।

तथागत ने हँस कर कहा—यह सारा राजपाट तो तेरा ही है, तुझे और क्या दायज चाहिये !

यशोधरा ने सविनय कहा—प्रभो ! आपके आने के पहिले यह राजपुत्र था, अब परिव्राजक की प्रजा है; इसे परिव्राजक का दायज दीजिये ।

तथागत ने सोचा—ओह, यह कैसी त्यागमयी महान् आत्मा है ! अपने शेष अवलम्ब को भी कल्याण-मार्ग में अर्पित कर देना चाहती है—

"जन्म से ही प्राणी जो दीन
हुआ स्वार्थी जग में उत्पन्न
और वह परहित स्वत्त्व-विहीन
आत्मवलि कहती : अह चिर धन्य !"

उन्होंने श्रद्धा से नतमस्तक होकर कहा—देवि ! क्या तुम्हें दुःख नहीं होगा ?

यशोधरा ने आत्मस्थ होकर कहा—आपसे इसे जो प्राप्य मिलेगा उससे मेरा ही नहीं, त्रैलोक्य का दुःख दूर हो जायगा; फिर मैं अपने क्षुद्र अहम् की चिन्ता क्यों करूँ !

तथागत ने सन्तुष्ट होकर सारिपुत्र से कहा—भणे, राहुलकुमार को प्रव्रज्यित करो ।

महामौद्गल्यायन ने कुमार के केश काट कर, काषाय वस्त्र देकर, 'त्रिशरण' दिया—

बुद्धं शरणं गच्छामि
धम्मं शरणं गच्छामि
संघं शरणं गच्छामि

राहुल की प्रव्रज्या से प्रभावित होकर आनन्द, नन्द, कृमिल, अनिरुद्ध, उपनन्द, कुण्ठधान और देवदत्त ये सभी प्रव्रज्यित हो गये।

इस दीक्षा-समारोह को देख कर महाप्रजावती विचलित हो उठीं। उन्होंने आर्द्र होकर तथागत से कहा—वत्स, जब कल के ये बच्चे संन्यासी हो सकते हैं तब इस बूढ़ी को क्यों वञ्चित करते हो, मुझे भी प्रव्रज्या दो।

तथागत ने कहा—मातेश्वरी, आप गोमुखी की तरह यहीं से अमृत प्रवाहित करती रहें। हम शिशुओं को अपना आशीर्वाद प्रदान करें।

......उनका चरणस्पर्श कर सब चल पड़े। प्रासाद-द्वार पर विदा देकर अवशिष्ट राजपरिवार निर्निमेष दृष्टि से देखता रह गया—बसेरे से निकल कर कितने विहग मुक्त वायुमण्डल में उड़ गये !

काशी, गुरुपूर्णिमा :
१।७।५८

[१२]

उत्सर्ग

कपिलवस्तु से तथागत पुनः राजगृह चले गये। राजगृह का श्रेष्ठी उनका श्रद्धालु हो गया था। उसने तथागत और उनके भिक्षु संघ को भोजन के लिए निमन्त्रित किया।

अनाथपिण्डक श्रावस्ती (कोशल) का गृहपति (नगरसेठ) था, वह राजगृह के श्रेष्ठी का बहनोई था। उसका पूर्वनाम सुदत्त था, मानों जन्म से ही उसका जीवन लोकसेवा के लिए समर्पित था।

अनाथपिण्डक किसी काम से राजगृह आया था। उसने देखा, श्रेष्ठी अत्यन्त व्यस्त है, अपने कर्म्मचारियों को आदेश दे रहा है—'तो भणे! समय पर ही उठ कर खिचड़ी पकाओ, भात पकाओ, सूप तैयार करो।'

अनाथपिण्डक को कुतूहल हुआ, कैसी है यह व्यस्तता कि श्रेष्ठी उसकी ओर ध्यान नहीं दे पा रहा है! मेरे आने पर यह पहिले सब काम छोड़ कर मेरा आवभगत करता था। अब इतना विक्षिप्त क्यों हो गया है! क्या इस श्रेष्ठी के यहाँ आवाह है, विवाह है, या महायज्ञ है!

श्रेष्ठी से पूछने पर उसने उत्तर दिया—मेरे यहाँ न आवाह है, न विवाह है; हाँ, एक पुनीत यज्ञ अवश्य है; संघ-सहित भगवान बुद्ध कल भोजन के लिए पधार रहे हैं।

'बुद्ध! लोक में बुद्ध उत्पन्न हो गये!!' आश्चर्य्य और श्रद्धा से अनाथपिण्डक-स्तब्ध हो गया। उसने उत्कण्ठित होकर पूछा—गृही, क्या इस समय भगवान् अर्हत् सम्यक्-संबुद्ध के दर्शन के लिए जाया जा सकता है?

श्रेष्ठी ने कहा—यह उपयुक्त समय नहीं है।

अनाथपिण्डक ने निश्चय किया, यथासमय कल जाऊँगा। अपनी उत्कण्ठा और श्रद्धा को पलकों में सम्पुटित कर वह सो गया। किन्तु निद्रा में भी उसकी उत्सुकता इतनी अधीर हो उठी कि रात को ही सबेरा समझ कर कई बार जग पड़ा। कुछ अँधेरा रहते ही भगवान् के दर्शनों के लिए चल पड़ा।

उस प्रत्यूष बेला में तथागत समतल मैदान में टहल रहे थे। उसे आते हुए दूर से देख कर ही अन्तर्य्यामी ने जान लिया—यह अभ्यागत विशुद्धाशय है। उससे मिलने के लिए अपने आसन पर आकर बैठ गये।

अनाथपिण्डक जब समीप पहुँचा तब तथागत ने उसे आहूत किया—आ सुदत्त !

वह उत्फुल्ल हो उठा—धन्य भाग्य, भगवान् मुझे नाम लेकर बुला रहे हैं ! कैसे इन्हें मेरा नाम मालूम हो गया ! अरे, जो सबके जन्म-जन्मान्तर को जानते हैं उन सर्वज्ञ से क्या अज्ञात रह सकता है ! वह उनके चरणों में प्रणत हो गया।

अपने रात्रि-जागरण के कष्ट से संवेदनशील होकर अनाथपिण्डक ने तथागत से पूछा—भन्ते ! भगवान् को निद्रा सुख से तो आयी ?

तथागत ने कहा—निर्वाण-प्राप्त ब्राह्मण (अर्हत) सर्वदा सुख से सोता है। सारी आसक्तियों को खण्डित कर हृदय से डर को हटा कर चित्त की शान्ति प्राप्त कर उपशान्त हो सुख से सोता है।

अनाथपिण्डक ने चित्त की शान्ति का उपाय पूछा। तथागत ने कहा—जरा और मृत्यु की पीड़ा से विकल होकर संसार भटक रहा है, अतएव शान्ति जन्म-मुक्त (निर्वाण) हो जाने से ही मिल सकती है। जन्म-रहित हो जाने से जरा और मृत्यु का आक्रमण नहीं होता।

अनाथपिण्डक ने सविनय पूछा—भगवन्, प्राणी जन्म-मुक्त कैसे हो सकता है ?

तथागत ने कहा—जन्म का कारण राग, और आसक्ति है। इन्हीं आस्रवों से जन्म-जरा-मरण का आवर्त्तन-प्रत्यावर्त्तन होता रहता है, अतएव

आस्रवों से मुक्त होकर ही प्राणी जीवन्मुक्त हो सकता है। निवृत्ति ही मुक्ति है, निर्वाण है।

अनाथपिण्डक ने निवेदन किया—तो भन्ते ! निवृत्ति केवलचित्त की (आन्तरिक) साधना है, उसका कर्म्म लोक (बाह्य जगत) से सम्बन्ध नहीं है?

तथागत ने कहा— जैसा चित्त होता है वैसा ही तो कर्म्म होता है, अतएव अन्तर्बाह्य जगत अभिन्न हैं, स्रोत और प्रवाह की तरह।

अनाथपिण्डक ने साञ्जलि आत्मसमर्पण करते हुए कहा—मैं तथागत के चरणों में दत्तचित्त होकर अमृतप्रवाही होना चाहता हूँ, सम्प्रति मेरा क्या कर्त्तव्य है भगवन् !

तथागत ने कहा—सुदत्त ! तेरा नाम ही तेरे कर्त्तव्य का सर्वोपरि निर्देशक है, लोककल्याण के लिए तू मुक्त हस्त से दान कर। दान देना निर्वाण को क्रियान्वित करना है। इसके द्वारा वह लोभ जीता जा सकता है जिससे अनार्य्य लोग आक्रान्त रहते हैं। इससे वह तृष्णा जीती जा सकती है जो प्राणी को तामसिक बना देती है। धन देना ही दान नहीं है, ऐसा दान कृत्रिम भी हो सकता है। मैत्री-करुणा-सेवा-श्रद्धा हार्दिक दान है।

अनाथपिण्डक ने तथागत की चरणधूलि मस्तक से लगा कर उनका आदेश-उपदेश शिरोधार्य्य करते हुए निवेदन किया—भगवन्, जैसे आपने अपने चरण सान्निध्य से मुझे कृतकृत्य किया वैसे ही श्रावस्ती पधार कर वहाँ के रजकणों को भी पवित्र करने की कृपा करें। इस बार वहीं आपका चातुर्मास्य (वर्षा-वास) हो।

तथागत ने स्वगत सोचा—उनके सांस्कृतिक सञ्चरण का क्षेत्र अभी कितनी दूर-दूर तक फैला हुआ है। नयी यात्रा के प्रति आत्म-निविष्ट होकर उन्होंने हाथों की आश्वस्ति-मुद्रा (मौन वाणी) से ही अनाथपिण्डक का आमन्त्रण स्वीकार कर लिया।

अनाथपिण्डक आश्वस्त चित्त से भगवान की प्रदक्षिणा कर चला गया।

......श्रावस्ती को लौटते समय उसके पैर जमीन पर नहीं पड़ रहे

थे, हर्ष की हिलोरों में तैरते जा रहे थे। उसके जीवन को अविगत गति (अन्तर्गति) मिल गयी थी।

ऐश्वर्य्य की तरह ही वह अपने उल्लास में भी उदार हो गया था। तथागत के आने का सुसम्वाद सबको बाँटता जा रहा था। लोग स्वागत का शुभ साज सजाने के लिए उत्साहित हो उठे।

अनाथपिण्डक ने कहा—पथ के तटवासियो और पुरवासियो! तुम्हारा उत्साह केवल बाह्य प्रदर्शन में ही नहीं व्यक्त होना चाहिये, उसे अभ्यन्तर के सत्त्वोद्रेक में भी उज्जीवित होना चाहिये। एक दिन का उत्सव चिरन्तन कल्याण का अमृत-महोत्सव बन जाना चाहिये। कल्मष-रहित अन्तस् का मङ्गल कलश सजाओ। मल-मूत्र की तरह राग-द्वेष, काम-क्रोध, मद-लोभ को विसर्जित कर तथागत के स्वागत के लिए निर्म्मल स्वस्थ चित्त प्रस्तुत करो। हृदय की आर्द्रता से सींच कर धर्म्म का कल्पद्रुम प्रफुल्लित करो। भगवान् को त्याग और करुणा प्रिय है—

"चिरपूर्ण नहीं कुछ जीवन में
अस्थिर है रूप-जगत का मद,
बस आत्मत्याग जीवन-विनिमय
इस सन्धिजगत में है सुखप्रद।

... ...

करुणारञ्जित जीवन का सुख,
जग की सुन्दरता अश्रुस्नात,
करुणा ही से सार्थक होते
ये जन्म-मरण सन्ध्या-प्रभात।"

......जनता को उद्बोधित करता हुआ अनाथपिण्डक श्रावस्ती पहुँच गया। तथागत के विहार के लिए ऐसा उपयुक्त स्थान खोजने लगा जो गाँव से न बहुत दूर हो न बहुत समीप, जिज्ञासुओं और दर्शनार्थियों के लिए सुगम हो, दिन में कम भीड़ हो और रात म निःशब्द

शान्ति हो, ऐसा एकान्त हो जो वि-जन-वात हो (आदमियों की हवा से रहित हो), तथागत के ध्यान के लायक हो।

खोजते-खोजते उसे जेत राजकुमार का उद्यान उपयुक्त जान पड़ा। उसने राजकुमार से अनुरोध किया—आर्य्यपुत्र, मुझे आराम बनवाने के लिए अपना उद्यान दीजिये।

जेतकुमार आनाकानी करने लगा। अनाथपिण्डक ने अनुमान किया—यह अर्थलोलुप है, अपना सर्वस्व देकर भी इसके उद्यान का सदुपयोग करना चाहिये। उसने गाड़ियों पर हिरण्य (मोहर) ढुलवा कर जेतवन के 'कोटिसन्थार' तक (किनारे से किनारे तक) बिछवा दिया। कोठे के चारों ओर का थोड़ा-सा स्थान खाली रह गया। उसने जब फिर अपने कार्य्यकर्त्ताओं को हिरण्य लाने की आज्ञा दी तब जेत राजकुमार सचेत हो गया। उसने सोचा—श्रेष्ठी होकर यह धन का मोह छोड़ रहा है, मैं राजपुत्र होकर दरिद्रों की तरह लालच कर रहा हूँ। निश्चय ही वह धर्म्म-कार्य्य श्रेष्ठतम होगा जिसके लिए धन नगण्य हो गया। उसने स्वाभिमान से उद्दीप्त होकर कहा—बस, गृहपति! तू इस खाली जगह को मत ढँकवा। यह अवकाश (खाली जगह) मुझे दे, यह मेरा दान होगा।

उसे भी धर्म्मलाभ देने के लिए अनाथपिण्डक सहमत हो गया।

......क्रमशः चारिका करते हुए तथागत राजगृह से वैशाली, वैशाली से श्रावस्ती के लिए चल पड़े। राह में दर्शनों के लिए एकत्र जन-समूह को भिक्षुसंघ सन्देश देता जा रहा था—

"चुन-चुन ले रे कन-कन से
जगती की सजग व्यथाएँ
रह जायेंगी कहने को
जनरञ्जनकरी कथाएँ।"

......श्रावस्ती में तथागत उस जेतवन में अवस्थित हुए जो उत्तर कोशल की राजधानी का सांस्कृतिक अन्तःकरण था। वहाँ के रजकण

अशोक के बिखरे फूलों से चन्द्रिकोज्ज्वल थे, आवास हिमालय की तरह धवल-विमल थे। चारों ओर शान्ति का शुभ्र प्रसार था—

"चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था।"

तथागत के आने का समाचार पाकर कोशलनरेश प्रसेनजित् उनके चरणों में सविनय उपस्थित हुआ। अथागत ने पूछा—राजन्, सब कुशल-मङ्गलन है?

प्रसेनजित् ने कहा—भगवन्, राजनीति में वहुत द्वन्द्व है, बहुत संघर्ष है, मन को शान्ति नहीं मिल रही है।

तथागत ने पूछा—राजनीति में यह द्वन्द्व और संघर्ष कहाँ से आ गया, क्या कभी इस पर भी विचार किया है?

प्रसेनजित् ने कहा—जीवन में कभी एकान्तचित्त होने का अवसर ही नहीं मिला भगवन्! कृपया अपने चिन्तन का प्रसाद प्रदान कीजिये।

तथागत ने कहा—मनुष्य के दैनिक जीवन में अपने-अपने अहङ्कार की सन्तुष्टि के लिए स्वार्थों का जो संघर्ष होता आया है उसी का पुञ्जीकरण राजनीति में हो गया है। सबका अहङ्कार राजनीति में केन्द्रित हो जाने के कारण लोग या तो सत्ता की पूजा करते हैं या उसे हस्तगत करने के लिए षड्यन्त्र करते हैं। यह कोई नहीं देखता कि व्यक्ति-व्यक्ति का क्षुद्र अहम् ही तो सत्ता में राई से पर्वत हो गया है। कालान्तर में जब अपनी विषाक्तता से जर्ज्जरित होकर सत्ता धराशायी होने लगेगी तब वह व्यक्तियों और उनके स्वार्थ-सङ्गठनों में खण्ड-खण्ड होकर विकीर्ण रूप में दिखाई देने लगेगी। फिर भी लोभाक्रान्त लोग नहीं चेतेंगे, या तो वर्ग-संघर्ष करेंगे या अपने स्वार्थों के अनुरूप सत्ता बनाने का प्रयत्न करेंगे। इस तरह विषमता का मूल कारण अहङ्कार तो बना ही रह जायगा।

प्रसेनजित् ने पूछा—तो क्या करना चाहिये भगवन्!

तथागत ने कहा—नवनिर्म्माण के लिए पहिले आत्मनिरीक्षण और प्रत्यवेक्षण (गम्भीर चिन्तन) की आवश्यकता है।

प्रसेनजित् ने कहा—भगवान् आदेश दें तो मैं आत्मनिरीक्षण और प्रत्यवेक्षण के लिए वानप्रस्थ ले लूँ।

तथागत ने कहा—राजन्, आत्मनिरीक्षण और प्रत्यवेक्षण गृहस्थ रह कर भी किया जा सकता है।

प्रसेनजित् ने कहा—तो भगवन्, मेरा कर्त्तव्य मुझे अवगत करें।

तथागत ने कहा—तुम्हारा आत्मनिरीक्षण और प्रत्यवेक्षण ही कर्त्तव्य-बोध देगा। यदि तुम्हें जान पड़े कि अहङ्कार से ही मनुष्य स्वार्थी हो गया है, समष्टि के प्रति अपना संवेदनशील (जीवन्त) धर्म्म भूल गया है तो जनता में ऐसी सहयोगमूलक अर्थ-व्यवस्था परिचालित करो जिससे उसमें सात्त्विक प्रवृत्तियों का प्रस्फुरण हो। नृपति और धनिक अपने ऐश्वर्य्य, सत्ता और स्वार्थ से जड़ बना कर जनता के संस्कारों और अभ्यासों को विकृत करते आ रहे हैं। तुम उन्हें सुकृत की ओर मोड़ दो।

प्रसेनजित् ने चरणों में प्रणत होकर कहा—भगवन्, आप का आशीर्वाद मुझे कर्त्तव्य-पालन के योग्य बनावे।

तथागत ने हाथों की अभय-मुद्रा से उसे मौन आशीर्वाद दे दिया—शुभमस्तु।

वह राजमत्त गयन्द मदमुक्त चित्त से तथागत की प्रदक्षिणा कर चला गया।

अपराह्ण में अनाथपिण्डक ने तथागत की सेवा में प्रणत होकर निवेदन किया—भगवन्, मेरे लिए क्या आदेश है?

तथागत ने प्रसन्न होकर कहा—सुदत्त, तूने तो मुक्तहस्त से सर्वस्व देकर अपना नाम सार्थक कर दिया। अब तू अनाथपिण्डक है। वत्स, लोकनिरीक्षण और लोकजागरण के लिए तुझे भिक्षाटन करना चाहिये।

अनाथपिण्डक ने तथागत की चरणधूलि मस्तक से लगा कर कहा—आपके आशीर्वाद से मेरा पथ आलोकित हो प्रभु!

तथागत ने कहा—एवमस्तु।

·········दूसरे दिन ब्राह्म बेला में वह भिक्षाटन के लिए चल पड़ा—

"भिक्षा दो भिक्षा, नींद त्याग
प्रभु बुद्ध के लिए रहा माँग
बोला अनाथपिण्डक, 'सुभाग
हे पुरजन !'
द्रुत तरुण तपन की अरुण वरण—
आभा की फैली स्वर्ण किरण
श्रावस्तिपुरी के लग्न-गगन
सौधों पर।
बोला साधू—'वारिद उदार
होता क्षय बरसा वृष्टि धार,
है त्याग धर्म्म ही धर्म्मसार
इस जग में।'
राजा ने कहा—वृथा मणिधन,
गृहियों ने—तुच्छ गृहायोजन,
गोपन में अश्रु किये मोचन
गृहिणी ने।
घर घर खुल पड़े कपाट-द्वार
धनिकों ने लुटा दिये अपार—
मणिगण-रत्नों के कण्ठहार
सब पथ में।
वे वसन-विभूषण व्यर्थ जान
बोला संन्यासी—हे सुजान
दो भिक्षु श्रेष्ठ को श्रेष्ठ दान !
पुरवासी !
फिर गये भूप, फिर गये सेठ
कुछ मिली न प्रभु के योग्य भेंट
वह लज्जा पुरी न सकी मेट
माथे से।

सूरज निकला जग गया देश,
श्रावस्ती का पथ हुआ शेष,
तब किया साधुवर ने प्रवेश—
कानन में ।

थी एक दीन स्त्री, भूमि-शयन,
था पास न असन-वसन-भूषण,
चूमे भिक्षुक के कमलचरण
आ उसने ।

तब छिपा विटप के ओट गात
निज वसन खोल औ' बढ़ा हाथ
वह शेष चीर दे दिया प्रात
निर्धन ने ।

द्रुत किया भिक्षु ने हर्षनाद—
तुम धन्य मात ! आशीर्वाद
तुमने की प्रभु की पूर्ण साध
पल भर में ।

तब चला साधुवर छोड़ नगर
उस जीर्ण चीर को ले सत्वर
रख दिया बुद्ध के चरणों पर
आभामय ।''*

काशी,
१६।७।५८

---

*रवीन्द्रनाथ, अनु०—पन्त

[१३]

लोकमाता

अपने स्तनों से दूध पिला कर जिस मातृहीन शिशु को पृथ्वी पर खड़ा किया उसे अपनी आँखों के सामने सकुशल देखती रहने के लिए महाप्रजावती राजप्रासाद छोड़ कर वात्सल्य से रँभाती गौ की तरह विस्तृत वसुन्धरा में निकल पड़ीं। गौ की तरह ही दिशाओं में उस दुग्धल मुख की सुवास सूँघती हुई वहाँ पहुँच गयीं जहाँ वह देवपुत्र अमृत का सञ्चार कर रहा था।

उस समय तथागत वैशाली के महावन की कूटागारशाला में विहार (निवास) करते थे। उनके प्रिय शिष्य आनन्द ने बहुत सी शाक्य नारियों के साथ मूर्त्तिमती चारिका की तरह महाप्रजावती को आते हुए देखा। पैर डगमगा रहे थे, शरीर धूलिधूसरित था, आँखें डबडबाई हुई थीं। दौड़ कर आनन्द ने उन्हें अभिवादन किया और लकुटिया की तरह उन्हें सहारा दिया। उसने सविनय पूछा—मातःश्री, इस वृद्धावस्था में इतना कष्ट उठा कर यहाँ किस अभिप्राय से पधारी हैं!

महाप्रजावती ने कहा—आवुस, तथागत ने घर छोड़ दिया, उस सूने पिंजड़े में क्या हम शरीर छोड़ने के लिए ही जीवित रहेंगी, क्या हमें मुक्ति नहीं मिलेगी!

आनन्द ने पुनः पूछा—तो आपकी क्या अभिलाषा है आर्य्ये!

महाप्रजावती ने कहा—तथागत के धर्म्मविनय में हम स्त्रियों को भी प्रव्रज्या मिलनी चाहिये, हम भी तो प्राणी हैं, हमें भी तो जीवन्मुक्ति चाहिये।

आनन्द असमञ्जस में पड़ गया—कैसे तथागत से यह अनहोनी बात कही जाय! क्षण भर उसने कुछ सोचा और प्रजावती से कहा—

आर्य्या, आप तरुछाया में तनिक विश्राम करें, अपनी ग्लानि दूर करें, तब तक मैं तथागत को आपके आगमन की सूचना दे आऊँ।

महाप्रजावती ने कहा—आयुष्मान्, बिलम्ब न हो। मेरा विश्राम क्या, मैं तो टूटती हुई साँस हूँ!

·········तथागत के चरणों में प्रणत होकर आनन्द ने निवेदन किया—भगवन्, आर्य्या महाप्रजावती आपके दर्शनों के लिए आयी हुई हैं।

तथागत चकित हुए—आर्य्या!—इस दूर देश में!! यह कैसे सम्भव हुआ आनन्द?

आनन्द ने निवेदन किया—उनकी श्रद्धा ही उन्हें इतनी दूर ले आयी भगवन्! वे भी तथागत के धर्म्मविनय में दीक्षित होना चाहती हैं, प्रव्रज्या लेना चाहती हैं।

तथागत चिन्तित हो उठे—माया-मोह के जिस संसार को वे घर-द्वार के साथ छोड़ आये, वह उन्हें नहीं छोड़ना चाहता; अतीत की रागात्मक समस्या फिर वर्त्तमान में आ उपस्थित हुई है। आनन्द से उन्होंने कहा—भणे, संघ में स्त्रियों को सम्मिलित करने से गार्हस्थ्य और वैराग्य में क्या अन्तर रह जायगा!

आनन्द ने निवेदन किया—वीतराग हो जाने पर स्त्रियाँ भी अनागारिका संन्यासनी हो सकती हैं भगवन्!

तथागत ने कहा—आर्य्या तो वृद्धा हैं, उनके तो सांसारिक सम्बन्ध समाप्तप्राय हैं, किन्तु उन्हें प्रव्रज्या दे देने से अन्य रागवती स्त्रियाँ संघ में सम्मिलित होने लगेंगी। भिक्षुओं में भ्रष्टाचार फैल जायगा।

आनन्द को ऐसा जान पड़ा कि तथागत मेरे माध्यम से भिक्षुसंघ की थाह ले रहे हैं। उसने निवेदन किया—सांसारिक सम्बन्ध (रागात्मक सम्बन्ध) आयु पर नहीं, चित्तवृत्ति पर निर्भर है। शिशु भी निर्लिप्त चित्त हो सकता है और वृद्ध भी रागलिप्त हो सकता है। वृद्ध भी निर्लिप्तचित्त हो सकता है, शिशु भी रागलिप्त हो सकता है। इसी लिए तो पुरानी परम्परा के प्रतिकूल आपने संन्यास को वयमुक्त कर

दिया है। अब तथागत की कृपा से संन्यास को नर-नारी-भेद से भी मुक्त होना चाहिये। स्त्रियों के प्रव्रज्यित होने से यदि भिक्षुओं में असंयम की आशङ्का ,है तो उनका एकान्त-संयम भी कब तक टिक सकेगा ! जैसे मनोविकारों से पलायन करके संयम नहीं किया जा सकता वैसे ही स्त्रियों से विमुख होकर जितेन्द्रिय नहीं हुआ जा सकता। संघ में स्त्रियों के आ जाने से तो भिक्षुओं का चरित्र स्वतः और शीघ्र स्पष्ट हो जायगा। यदि स्त्रियों के आ जाने से संघ में भ्रष्टाचार फैल सकता है तो ऐसे दुर्बलचित्त संघ की क्या आवश्यकता है, क्या उपयोगिता है, क्या सार्थकता है ! स्त्रियों पर अविश्वास करके भिक्षुओं के साथ पक्षपात न किया जाय भगवन् ! सब पुरुष एक-से नहीं होते और न सब स्त्रियां एक-सी होती हैं। सबकी तरह स्त्रियों को भी साधना का अवसर और अधिकार मिलना चाहिये।

आनन्द के इस उन्मुक्त उद्‌गार से तथागत आँखें मूँद कर (मानों भविष्य में तिरोहित होकर) विचारमग्न हो गये। कुछ क्षणों के बाद अपनी निमीलित पलकों को कालपटल की तरह खोलते हुए उन्होंने कहा—आनन्द ! व्यक्ति का अपना ही अन्तःसंघर्ष दुर्द्धर्ष है, फिर संघ तो कितने ही भिक्षुओं के अन्तःसंघर्षों का संघात है। अब तुम इसमें स्त्रियों को सम्मिलित करने का अनुरोध कर रहे हो। उनके आ जाने से तो संघ संघर्षों का लोकमञ्च हो जायगा।

आनन्द ने निवेदन किया—भगवन्, संसार में संघर्ष रहते हुए भिक्षुसंघ उससे अछूता कैसे रह सकता है !

तथागत ने कहा—भिक्षुसंघ को आदर्श बना कर मैं संसार को यही तो दृष्टान्त देना चाहता था, किन्तु देखता हूँ, संसार ही संघ में आकर अपने प्राकृत रूप का विस्तार करना चाहता है।

आनन्द ने निवेदन किया—इससे तो संघ को बड़ी सुविधा हो जायगी भगवन् ! संघ संसार के सामने जो आदर्श उपस्थित करना चाहता है वह आदर्श संसार यहाँ आकर स्वयं पा जायगा। संघ अभी जो अपने

और संसार के प्रति दुहरे दायित्त्व का भार वहन कर रहा है वह हलका हो जायगा, एकान्वित हो जायगा।

तथागत ने कहा—इससे क्या संघ में कलह और मात्सर्य्य नहीं बढ़ जायगा ? संघर्ष शान्त करने में ही मूल उद्देश्य (निर्वाण) पीछे छूट जायगा।

आनन्द ने कहा—त्रिगुणात्मक प्रकृति में संघर्ष तो अनिवार्य्य है भगवन्! चाहे आपके समय में हो चाहे आपके बाद हो। आपके रहते संघर्ष मौलिक समाधान (सांस्कृतिक समाधान) पा जायगा, लोकजीवन आत्मसंशोधन करेगा और आपके पदचिह्नों पर चल पड़ेगा।

तथागत ने कहा—तुम्हारा विश्वास सफल हो आनन्द! आओ, अब हम आर्य्या के पास चलें।

………बाहर आकर तथागत ने देखा—पुरखिन के रूप में पुरानी पृथ्वी अपना धूलि-धूसरित आँचल बिछाये उनकी प्रतीक्षा कर रही है। महाप्रजावती के चरणों में प्रणतहोकर उन्होंने वन्दना की—

"धन्य मातृ, धन्य धातृ,
धन्य पुत्र सचराचर।
निखिल शस्य, पुष्प-निकर,
कोटि कीट, खग, पशु, नर,
विविध जाति, वंश प्रवर,
पुष्प-धूलि-जात अमर।
…… ……
सर्वदेश, सर्वकाल,
धर्म्म जाति वर्ण जाल,
हिलमिल सब हों विशाल,
एक हृदय, अगणित स्वर।"

काशी,
२१।७।५८

[१४]

हृदय-परिवर्त्तन

बर्बर पशुओं से आक्रान्त, श्रावस्ती के वन्यप्रान्तर में एक नरपशु भी रहता था। उस विकराल व्याघ्र का नाम अङ्गुलिमाल था। वह मनुष्यों को मार कर अङ्गुलियों की माला पहनता था। उसके आतङ्क से पीड़ित होकर त्रस्त प्रजा ने राजा प्रसेनजित् से आवेदन किया—देव! उस दुर्दान्त दस्यु से हम लोगों की रक्षा कीजिये।

राजा प्रसेनजित् ने उसके दमन के लिए बहुत उपाय किया, किन्तु वह निष्फल हुआ। सैनिक शक्ति के रहते हुए भी प्रसेनजित् दस्युजित् नहीं हो सका।

अङ्गुलिमाल जन्म से ही दुर्दान्त दस्यु नहीं था, कभी वह नरपशु भी मनुज-शिशु था। कोशलराज के पुरोहित गार्ग्य की भार्य्या मैत्रायणी की कोख से उत्पन्न हुआ था। किशोरावस्था में वह तक्षशिला के गुरुकुल का सुशील छात्र था। आचारवान् आज्ञाकारी और प्रियभाषी था। उसके शील और प्रतिभा से मन्दबुद्धि सहपाठियों को द्वेष होने लगा। आपस में परामर्श करने लगे—कैसे इसे नीचा दिखावें। वे उसका छिद्रान्वेषण करने लगे, किन्तु उस निष्ठावान और प्रज्ञावान माणवक में उन्हें कोई दोष नहीं दिखाई दिया। तब उन्होंने निश्चय किया—आचार्य्यायिणी को निमित्त बना कर इसे लाञ्छित किया जाय।

उस सुशील माणवक पर आचार्य्यायिणी का अपत्य स्नेह था, अत्यन्त वात्सल्य था। माता की तरह ही वे विद्यामाता उसके योग-क्षेम का ध्यान रखतीं, घर आ जाने पर उसका सत्कार करतीं और आशीर्वाद के रूप में अन्नपूर्णा का प्रसाद देतीं।

विद्वेषी सहपाठियों ने गुरुकुल में यह प्रवाद फैला दिया—आचार्य्या-यणी से ढोंगी माणवक का अनुचित सम्बन्ध है।

बारी-बारी से प्रवाद को पुष्ट करने के लिए विद्वेषियों ने अपने को तीन टुकड़ियों में विभक्त कर लिया।

पहली टुकड़ी आचार्य्य के पास जाकर अभिवादन और वन्दना कर के खड़ी हो गयी।

आचार्य्य ने पूछा—क्या है आयुष्मानो !

उत्तर मिला—वह माणवक आपके अन्तःपुर को दूषित कर रहा है।

आचार्य्य ने डाँट दिया—जाओ शूद्रो ! मेरे शीलवान पुत्र और मुझमें विग्रह मत उत्पन्न करो।......

बीच-बीच में कुछ दिन छोड़ कर दूसरी-तीसरी टुकड़ी ने भी पहिली टुकड़ी की बात दुहराते-तिहराते हुए कहा— यदि आचार्य्य को हमारी बात पर विश्वास नहीं है तो स्वयं परीक्षा करके देख लें।.........

एक दिन माणवक आचार्य्यायणी के चरणों में उपस्थित होकर सदा की भाँति सहज संलाप कर रहा था। शिशु की तुतली बातों से दुग्ध-वत्सला माँ की भाँति विह्वला आचार्य्यर्याणी माणवक की सरलता से आत्मविभोर हो रही थीं। आचार्य्य ने परोक्ष दृष्टि से देख लिया। वे सम्भ्रम में पड़ गये गये। सोचने लगे—इस दुष्ट को कैसे दण्ड दूँ ! यदि मारता हूँ तो मुझे दुर्दण्ड समझ कर अन्य छात्र यहाँ पढ़ने नहीं आयेंगे, गुरुकुल सूना हो जायगा।

सोचते-सोचते उन्हें यह सूझा कि इससे ऐसी गुरुदक्षिणा माँगनी चाहिये जिससे यह हिंसक होकर हिंसा से ही समाप्त हो जाय। उन्होंने माणवक से कहा—वटुक, तुम्हारी शिक्षा पूरी हो चुकी है। अब मुझे अपनी गुरुदक्षिणा दो।

माणवक ने विनम्र होकर कहा—आचार्य्यश्री के चरणों में क्या दक्षिणा अर्पित करूं !

आचार्य्य ने आज्ञा दी—सहस्र नर-नारियों को मार कर अपने साहस का परिचय दो, तुम्हारा साहस ही मेरी दक्षिणा है।

......सरल हृदय माणवक सिहर उठा। उस नम्र स्नातक ने सात्त्विक दृढ़ता से कहा—आचार्य्य! मैं अहिंसक कुल में उत्पन्न हुआ हूँ, यह जघन्य पाप नहीं कर सकता।

आचार्य्य ने क्रुद्ध होकर कहा—मेरी मनोवाञ्छित दक्षिणा न देने से तुम्हारी विद्या निष्फल हो जायगी।

माणवक ने आचार्य्य की रुष्ट आँखों की ओर देखा, उनकी शिक्षा की तरह ही उन आँखों का रक्ताक्त रोष भी उसके कोरे चित्त में अनुरञ्जित हो उठा। सात्त्विक स्वभाव में तामसिक प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ। अहिंसक माणवक हिंसा के पथ पर चल पड़ा। अकेले सहस्र नर-नारियों का सामना नहीं कर सकता था, अतएव, पाँच हथियार लेकर जंगल में छिप गया।

वह मनुष्यों को केवल मारता था, धन और वस्त्र नहीं छीनता था। संख्या याद रखने के लिए गिनता जाता था। जब गिनती याद नहीं रख सका तब मृतकों की एक-एक अङ्गुली काट कर रखने लगा। अङ्गुलियाँ रखे स्थान पर खो जाती थीं, वह उनकी माला बना कर पहनने लगा। उसके भय से जब लोगों ने काम-काज के लिए जंगल में जाना बन्द कर दिया तब वह रात में गाँव में आकर पैर के आघात से दरवाजा खोल कर सोते हुओं को मार कर गिनती गिनता चला जाता। गाँव निगम में, निगम नगर में भाग कर राजा को गुहारने लगा।

उस समय तथागत अनाथपिण्डक के जेतवन में विहार करते थे। पूर्वाह्न में जब वे भिक्षाटन कर रहे थे तब उन्होंने अङ्गुलिमाल से पीड़ित प्रजा का आर्त्तनाद सुना। अपराह्न में वे उस दिशा की ओर चले जिधर अङ्गुलिमाल रहता था। उन्हें उधर जाते देख कर गोपालकों, पशुपालकों, कृषकों और पथिकों ने कहा—महाश्रमण, उस ओर मत जाइये। उधर पचासों आदमी एक-साथ जाकर भी अङ्गुलिमाल के चंगुल से नहीं बचते।

तथागत ने कहा—अङ्गुलिमाल से तुम लोग इतना डरते हो, क्या वह अपने-अपने मनोविकारों से भी अधिक भयङ्कर है!

लोग हतबुद्धि होकर उन्हें देखते रह गये। निर्भयचित्त तथागत आगे बढ़ गये।……

अङ्गुलिमाल ने उन्हें जब अकेले ही आते हुए देखा तब वह आश्चर्य्य में पड़ गया—कौन है यह जो मेरे सामने आने का साहस कर रहा है! अरे, यह तो कोई श्रमण है!! क्या इसे मारूं?……

तथागत के दीप्तिमान व्यक्तित्त्व से अभिभूत होकर क्षणभर वह असमंजस में पड़ गया, फिर उसे अपने हिंसात्मक संकल्प का ध्यान आ गया। उसने कड़क कर कहा—ठहरो!

तथागत रुके नहीं, चलते ही रहे। अङ्गुलिमाल को ऐसा जान पड़ा, यह श्रमण उसकी दुद्धर्ष शक्ति का तिरस्कार कर रहा है। क्षुब्ध होकर तथागत को पकड़ने के लिए उसने दौड़ने का प्रयत्न किया, किन्तु अपनी मानसिक उलझन (दुविधा) में ऐसा उलझ गया कि जहाँ का तहाँ निश्चल रह गया। वह सोचने लगा—दौड़ते हुए हाथी को, घोड़े को, रथ को, मृग को पकड़ लेने वाला मैं इस मन्दगति श्रमण से क्यों पिछड़ गया! मुझ पर यह कैसा सम्मोहन छा गया!!

उसकी देवासुर प्रवृत्तियों में आन्तरिक संघर्ष होने लगा। अपने दुर्दम पशु-शरीर को आस्फालित कर उसका असुरत्त्व प्राणपण से एक बार फिर हुङ्कार उठा—खड़ा रह श्रमण!

तथागत ने कहा—चलने में मुझे कोई कष्ट नहीं, निरुद्विग्न हूँ, अतएव मैं सुस्थित हूँ; तू भी सुस्थित हो अङ्गुलिमाल!

अङ्गुलिमाल ने विस्मित होकर पूछा—श्रमण, यह कैसी पहेली है! तुम चलते जा रहे हो, फिर भी अपने को सुस्थित कहते हो; मैं खड़ा हूँ, फिर भी मुझे अस्थित कहते हो!

तथागत ने कहा—जो उद्धत है, असंयत है, वह खड़ा होकर भी चञ्चल है; जो उदात्त है, संयत है, वह चलते हुए भी अविचल है।

तथागत की मार्म्मिक वाणी से उस प्रसुप्त मानव की मानसिक मूर्च्छा प्रेतबाधा की तरह दूर हो गयी। दुर्दान्त दस्यु के भीतर तिरोहित तक्षशिला का शीलवान प्रज्ञावान माणवक जाग उठा। उसकी आँखों

के सामने अतीत चलचित्र की तरह घूम गया। उसे अपनी वर्त्तमान प्रवृत्ति से आत्मग्लानि होने लगी। उसने अनुभव किया—मेरी शिक्षा का शुभारम्भ अब हो रहा है !

हथियार फेंक कर वह अपने नये शास्ता तथागत के चरणों में प्रणत हो गया। करुणामय ने अपनी शरण में ले लेने के लिए बाँह फैला कर उसे आहूत किया—'भिक्षु आ!'—यह नवीन सम्बोधन ही उसका संन्यास हो गया। अब वह अंशुमाल था।

अङ्गुलिमाल ने पश्चात्ताप और कृतज्ञता से विगलित होकर कहा—भगवन्! मेरे पापों का क्या प्रायश्चित्त है, यह अधम आपके प्रति भी दुर्विनीत हो गया था।

तथागत ने कहा—वत्स, तेरा पश्चात्ताप ही तेरा प्रायश्चित्त है। अब तू किसी के द्वारा प्रताड़ित किये जाने पर भी प्रतिकार मत करना, प्रतिशोध मत लेना। हिंसा के बाद अब तू प्रतिहिंसा से भी विरक्त हो जा!

अङ्गुलिमाल ने उनकी पदधूलि मस्तक से लगा कर कहा—मैं तथागत के चरणों का चिरअनुगत रहूँगा।......

अङ्गुलिमाल को अपना अनुगामी श्रमण बना कर तथागत जेतवन लौट आये।

......कोशल-नरेश प्रसेनजित् प्रजा की पुकार से विवश होकर पाँच सौ घुड़सवारों के साथ अङ्गुलिमाल का दमन करने के लिए स्वयं श्रावस्ती से प्रस्थान कर रहा था। तथागत का आशीर्वाद पाने के लिए वह अकेले पहिले जेतवन में गया। उसे उदास देख कर तथागत ने पूछा—राजन्, इतने चिन्तित क्यों हो? क्या किसी दूसरे राजा ने तुम्हारे ऊपर धावा बोला है?

प्रसेनजित् ने कहा—भन्ते! किसी राजा ने नहीं, डाकू अङ्गुलिमाल ने मेरे सारे राज्य को सङ्कट में डाल रखा है। मैं उसी का निवारण करने जा रहा हूँ। आपका आशीर्वाद चाहिये।

तथागत ने मुस्करा कर कहा—राजन्, यदि अङ्गुलिमाल का हृदय-

परिवर्त्तन हो गया हो, वह एकाहारी ब्रह्मचारी अहिंसक परिव्राजक हो गया हो तो आप उसके साथ कैसा व्यवहार करेंगे ?

प्रसेनजित् ने कहा—भन्ते ! हम प्रत्युत्थान करेंगे, आसन के लिए निमन्त्रित करेंगे, संन्यास के उपकरण प्रदान करेंगे, सब तरह से रक्षा करेंगे; किन्तु उसे दुःशील पापी से क्या शील-संयम सम्भव है !

अङ्गुलिमाल तथागत से थोड़ी दूर पर बैठा हुआ था। तथागत ने उसकी दाहिनी बाँह पकड़ कर राजा के सामने उपस्थित करते हुए कहा—राजन्, यह है तुम्हारा अपराधी अङ्गुलिमाल।

इस आकस्मिक संवाद से प्रसेनजित् सिर से पैर तक काँप उठा। उसे चकित और रोमाञ्चित देख कर तथागत ने ढाढ़स दिया—राजन् ! डरो मत, इस आतङ्ककारी में अब कोई डङ्क नहीं है। एक बार इसे भर-आँख देखो तो सही।

प्रसेनजित् ने आश्वस्त होकर ध्यान से देखा—ग्रीष्म का प्रचण्ड मार्त्तण्ड शिशिर का सुकोमल आतप हो गया है।

सम्मानपूर्वक खड़ा होकर राजा ने अङ्गुलमाल को साञ्जलि अभिवादन किया ! उस नूतन ब्रह्मचारी ने अपनी सौम्य दृष्टि से राजा को अभिषिक्त कर आशीर्वाद दिया—तथागत के चरणों में सबका कल्याण हो।

काशी,
२७।७।५८

[१५]

विसर्जन

वैशाली के महाराज अपने अनुचरों के साथ आम्रवन में सान्ध्य-भ्रमण कर रहे थे। अचानक उन्हें एक नवजात बालिका का कोमल क्रन्दन सुनाई पड़ा। पास जाकर उन्होंने देखा—किसी मृणालतन्तु से अभी-अभी विच्छिन्न एक पद्मलोचना कन्या पृथ्वी पर करुणा की विडम्बना-सी पड़ी हुई है। राजा का संवेदनशील हृदय द्रवित हो उठा, उसे अपनी गोद में ले लिया। वात्सल्य के मृदुल स्पर्श से बालिका के दुधमुँहे ओठों पर दूज की चन्द्रिका-सी द्युति दौड़ गयी।

उसकी माता वैशाली की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी थी। वह विधवा थी। वैधव्य में ही उसके अनिन्द्य सौन्दर्य्य की कलिका यह निर्दोष बालिका उत्पन्न हुई। समाज के भय से उसने सूर्य्यास्त के बाद राजा के आम्र-कुञ्ज में इस कलिका को छिपा दिया था।

राजा ने भावविभोर होकर कहा—अयि अज्ञात कुलशीले वनबाले! तू चाहे जो कोई भी हो, तुझे राजसम्मान मिलेगा। कलानिधि की सम्पूर्ण कलाओं से तेरा जीवन प्रकाशित होगा।......

आम्रकुञ्ज की स्मृति में उस बालिका का नाम आम्रपाली पड़ गया।

वैशाली का वृद्ध सेनानायक महानमन् अपने पद से अवकाश ले-रहा था। वह निःसन्तान था। उसकी राजकीय सेवा से प्रसन्न होकर राजा ने जीवन-वृत्ति के साथ-साथ लालन-पालन के लिए वह कन्या भी दे दी। वृद्ध मानों अपनी बुझती आँखों की ज्योति पाकर निहाल हो गया।

उस निसर्ग-कन्या को वक्षस्थल पर वात्सल्य से आवेष्टित कर महा-नमन् प्रकृति के मुक्त प्राङ्गण आनन्दग्राम चला गया।......

अपने ही भीतर निमीलित रहने वाली बालिका क्रमशः मुकुलित-

प्रस्फुटित होने लगी। अपनी शिशु आँखों से जब वह सृष्टि को विस्मित दृष्टि से देखती, तब भावना से उसका अन्तर्जगत स्वप्निल हो जाता—

'तारों से बातें करती है
शशि में जा पड़ता है झूला
किरणों की रेशम-डोरी से
फिरता है मन फूला-फूला।'

परियों-सी थी उसकी आत्मा।

......खिलौनों से खेलते-खेलते वह अपनी भावनाओं को कला-भिव्यक्ति देने लगी। उसका अन्तर्जगत घरौंधों से लेकर गुड़ियों तक मैं साकार होने लगा। किन्तु मूर्त्त आधार पाकर भी उसका स्वप्निल मन पूर्णतः व्यक्त नहीं हो पाता। अरे, कैसे अपनी सूक्ष्म भावनाओं को प्रत्यक्ष कर दे! निदान, नानी की कहानियों में अपने स्वप्नों का समाधान खोजने लगी।

वह निसर्ग-कन्या वय के साथ-साथ अपनी अनुभूतियों में भी किशोरी हो गयी, वह स्वयं अपनी भावनाओं की सदेह अभिव्यक्ति हो गयी।

तन्वङ्गिनी लहरी-सी उसकी देह थी। ज्योत्सना-सी उसकी गौर द्युति थी। उसी जैसी शुक्लवसना थी। वह शुभ्रा थी। उसकी उच्छल भावनाएँ जब उमड़ पड़तीं तब उमङ्गों से उसकी देह हिल्लोलित विलोलित हो उठती। कैसी अल्हड़ किशोरी थी!—विहङ्गिनी-सी निर्द्वन्द्व इधर-उधर फुदकती रहती, फुर्र-फुर्र उड़ती रहती, न आत्मकुण्ठा, न लोकलाज, सामाजिक विधि-निषेधों से परे मुक्त वायुमण्डल में अतीन्द्रिय चेतना की तरह विचरती रहती।

वह आत्मविभोर थी। उसमें विह्वलता ही विह्वलता थी। किशोरी हो जाने पर भी वह सरला अग-जग से कितनी अनजान थी, सबके सामने अधरों से, आँखों से मुस्कराती रहती थी। फिर भी वाणी से मौन थी, उसके रागोद्रेक का आभास उसकी उर्म्मिल गति से मिल जाता था। नीरव-निःशब्द वह अहर्निश अपने मानसिक स्वर्ग में निवास करती थी। अपनी चञ्चलता में भी समाधिस्थ थी।

'कू...ऊ...कु..., अरे, यह किस कान्हा ने बंशी बजा दी ! सुर उसके हिये में आकर बेंध गया, वह शफरी-सी तड़फड़ा उठी—

"बाँशरि ध्वनि तुह अमिय गरल रे
हृदय बिदारयि हृदय हरल रे
आकुल काकलि भुवन भरल रे
उतल प्राण उतरोय
को तुँहुँ बोलबि मोय ?"

बंशी-ध्वनि से उस आत्मनिमग्न किशोरी की समाधि टूट गयी। सम्पुटित पलकों में उसकी स्वप्निल दृष्टि अब बाहर की ओर उन्मुख हो गयी। एक विकल मधुरता से चारों ओर कुछ खोजने लगी, किन्तु अलख उसे दिखाई नहीं दिया।.........

कितनी गम्भीर हो गयी वह चञ्चल किशोरी ! अपने मृदु कर-तल पर कपोल रखकर किसी का ध्यान करने लगी, रह-रह कर उसका मूक हृदय अपने निःश्वासों में पूछ बैठता—'को तुँहुँ बोलबि मोय?'

उस अज्ञाता को क्या ज्ञात, उसी का माधुर्य्य बंशीध्वनि में मुखरित हो उठा था, उसी का रक्त-राग (अनुराग) रसात्मक हो गया था।···

उसे अनमनी देख कर सहेलियों ने कहा—अरी बावली, यह तुझे हो क्या गया है ! चल, आम्रवन में झूला झूलें।·····

वह आत्मविस्मृता सम्मोहित प्राणी की तरह परिचालित होकर चली गयी। सखियाँ उसे झुलाने लगीं।

'कू···ऊ···कु···' अरे यह क्या ! वह तो मूर्च्छित हो गयी। सहेलियाँ चीख उठीं। उनका चीत्कार सुन कर सुदूर रसाल की डाल से हाथ में बंशी लिये एक ललित-कलित तरुण उतर आया। अपने उत्तरीय से किशोरी के मुख पर व्यजन करने लगा। जिसकी बंशीध्वनि के मर्म्म स्पर्श से वह अचेत हो गयी थी उसी के व्यजन-पवन के अन्तःस्पर्श से सञ्जीव भी हो उठी, मानों किसी गारुड़िक ने बंशी का विष-हरण कर लिया। धीरे-धीरे अलस पलक खुलते ही उसने विस्मित दृष्टि से

देखा—जिस अदृश्य को खोज रही थी वही सामने प्रत्यक्ष खड़ा है। वह उसके अनिर्वचनीय माधुर्य्य की तरह ही मनमोहन है।

सखियों ने प्रसन्न होकर पूछा—तुम्हारा क्या नाम है सुभग !

तरुण ने कलकण्ठ से कहा—मेरा नाम मदनकुमार है।

"अरे तुम्हें तो कभी देखा नहीं, कहाँ रहते हो पथिक !"

"उस पार आनन्दग्राम के गोपुर प्रेमग्राम में रहता हूँ, कभी-कभी हवा में बंशी-ध्वनि की लहरियों का रुख देख कर इधर भी आ जाता हूँ।"

"ओहो हो, तो तुम बंशीवारे बनवारी हो ! तनिक बजाओ न, देखें कैसे बजाते हो !"

तरुण ने मुस्कराते हुए बंशी ओठों पर रख कर उसमें अपने प्राणों को पुलकित-प्रकम्पित कर दिया। किशोरी ने देखा—जिस गहराई में पहुँच कर बंशी हिये में हूक उठा देती है, उसी गहराई से साँस लेकर यह कूक रही है। क्या इसके हृदय में भी कोई हूक कुहुक रही है !

अरे, क्या है जो उसके भीतर रह-रह कर हूक उठता है। वह अपने हृदय को टटोलने लगी। कोई मनोरथ उसे मथ रहा है, किन्तु पकड़ में नहीं आ रहा है। वह अनुभावित होकर भी अपरिचित-सा है। जिसे खोज रही थी उसे सामने पाकर भी क्या जान-पहचान सकी ? वह भी तो अभी मनोरथ की तरह ही अपरिचित है।

उसने निर्निमेष दृष्टि से तरुण की ओर देखा, जैसे चकोरी कलाधर को देखती है। तरुण ने किशोरी को देखा, जैसे गायक अपनी स्वरलिपि को देखता है। दोनों में सौहार्द स्थापित हो गया।......

सखियों ने कहा—इसी तरह आया करो जी, बंशी बजाया करो जी!

अपने मनोरथ को स्पष्ट न समझ पाने पर भी किशोरी ने दर्शनों की आशा से उत्कण्ठित होकर कहा—हाँ, आया करो जी !

रसाल की डाल पर अपने आपमें समाधिस्थ एकाकी कलाकार समाधान पाने के लिए धरती पर विचरने लगा। वह प्रायः आनन्दग्राम आने-जाने लगा। उसके चले जाने पर किशोरी उसी की स्मृति में विलीन हो जाती—

"हृदय-माह-मझु जागसि अनुखण,
आँख उपर तुँहुँ रचलहि आसन,
अरुण नयन तव मरमे सङ्गे मम,
निमिख न अन्तर होय
को तुँहुँ बोलबि मोय ?"

अरे, इसके हृदय में रह-रह कर क्या हूक उठता है ? किस मनोरथ को यह बाहर मूर्तिमान देखते रहना चाहती है ! कुछ न जान पाने के कारण भोरी किशोरी में अब भी शैशव का सारल्य बना हुआ था। सहज-स्वभाव से एक दिन अपने बाबा (महानमन्) से उसका बखान करने लगी। बाबा ने देखा, गोद की बालिका अब पृथ्वी पर संसरण करना चाहती है। दुलार से कहा-तो कभी-कभी उसे अपने यहाँ भी बुला लिया करो न। किशोरी को जैसे वरदान मिल गया, वह किलक उठी।

एक दिन वन में सखियों के साथ आँखमिचौनी खेलते हुए उसने देखा, उसका मनमोहन चला आ रहा है। सखियों ने उसे चिकोटी काट कर कहा—लो एक साथी और आ गया !

……वह आकर चुपचाप खड़ा हो गया। सखियों ने कहा—आज क्या तुम्हारी बंशी को टोना लग गया है, बजाते क्यों नहीं ?

उसने कहा-उँह, थक गया हूँ, जरा तुम लोगों का खेल देखूँगा।

"देखोगे ही या खेलोगे भी ?"

"खेल सकूँगा तो खेलूँगा भी।"

"लेकिन चोर तुम्हें ही बनना पड़ेगा।"

वह खिलखिला कर हँस पड़ा।

उसकी आँखों पर पट्टी बँध गयी। उसे बीच में घेर कर सब मण्डलाकार खड़ी हो गयीं। उँगुलियों से चोंच मार कर उसे चिढ़ाने लगीं। वह उन्हें पकड़ने के लिए ज्यों ही हाथ बढ़ाता वे फुर्र हो जातीं।

अचानक किशोरी ने आकर उसकी बंशी छीन लेनी चाही। मुट्ठी में बँधी बंशी तो छूटी नहीं, बंशी की तरह किशोरी भी पकड़ में आ

गयी। आँखों में बंधी पट्टी खोल कर उसने उल्लसित चित्त से कहा—अब बोलो, कौन चोर है ? अचानक किशोरी की ओर देख कर चकित हो उठा—'अरी तुम !'

अपराधिनी अपना पराजित मुख तिरछे फेर कर ओठों में आँखों में मुस्करा पड़ी।

अचानक दक्षिण पवन के सुखस्पर्श से तरुण चिहुँक उठा। उसकी मुट्ठी ढीली हो गयी। किशोरी छिटक कर सखियों में जा खड़ी हुई। वे ताली बजा कर खिलखिला उठीं ।

आत्मविस्मृत तरुण उनकी खिलखिलाहट से सजग हो उठा। अपने मानसिक आन्दोलन को उसने बंशी में उद्वेलित कर दिया। '.........'

सखियाँ हाथों से ताल देकर थिरक उठीं । ....

प्रकृतिस्थ होकर तरुण जब जाने लगा तब किशोरी ने निमन्त्रण दिया—आज मेरे यहाँ चलो, बाबा ने बुलाया है।

वह चल पड़ा।

वृद्ध ने उसे बड़े स्नेह से अपना लिया, मानों एक पुत्र भी पा गया। उसके रूप-गुण से प्रसन्न होकर कहा—वत्स, अपनी बंशी अम्बी को भी सिखा दो न।

तरुण ने सविनय कहा—ध्वनि की तरह कला भी अपना विस्तार चाहती है। कला की समृद्धि के लिए यदि मैं अपनी सेवा सर्मपित कर सकूँ तो यह मेरा सौभाग्य है आर्य्य !

वृद्ध ने आशीर्वाद दिया—तुम्हारी कला की श्रीवृद्धि हो, तुम्हारा सदुद्देश्य सफल हो।

.........सङ्कोच से सिमटी हुई बालिका की चञ्चलता फिर लौट आयी। स्वतन्त्रता पूर्वक वह तरुण के साथ वनविहार करने लगी। एक दिन भूलभुलैया में पड़ गयी। सामने हिरनों की जोड़ी चली जा रही थी। वह उसी ओर देख रही थी। हिरन ने छलांग मारी, हिरनी पिछड़ गयी। वन के अन्तराल से निकल कर जब हिरन मैदान की धूप में झलमला उठा तब हिरनी दौड़ पड़ी, उसे फाँद कर आगे निकल गयी।

किशोरी ताली बजा कर खिलखिला पड़ी। उस कौतुक की प्रतिक्रिया जब तरुण के मुख पर देखने के लिए दृष्टि फेरी तब वह गायब था। किशोरी इधर-उधर हेरने लगी, हेरते-हेरते हैरान हो गयी। क्या फिर कहीं किसी पेड़ पर छिप गया ! जब ऊपर की ओर देखने लगी तब अचानक पीछे से आकर तरुण ने उसके कान में कूक दिया—कुहू कू······ किशोरी चौंक पड़ी।

'अरे कहाँ छिप गये थे तुम ?'

'इसी पेड़ की ओट में तो खड़ा था, तुम्हारी आँखें बचा कर चक्कफेरी दे रहा था।'

'तुम बड़े छलिया हो !'

'तुम बड़ी बोदी हो।'

'तभी तो तुमने मुझ पर अपनी बंशी का जादू कर दिया।'

दोनों एक साथ ही खिलखिला पड़े।

·········एक दिन सखियों ने कहा—अरी, तू तो बंशी के पीछे हम सबको भूल गयी।

किशोरी ने कहा—तुम भी तो भूल गयीं, अपने गाने-बजाने में कभी बुलाया नहीं।

एक ने चुटकी लेकर कहा—नटनागर की बंशी के आगे हम गँवारिनों का गाना-बजाना तुम्हें भला क्या भायेगा !

किशोरी ने कहा—अरी, बंशी से क्यों जलती हो, वह तो खुद ही मुँहजली है।

उसे रुआँसी देख कर एक समवयस्का ने कहा—बुरा मत मानो सखी ! आओ, हम नाच-गा कर जी जुड़ायें।

सब हिलमिल कर नाचने-गाने लगीं।

·········सखियों के साथ किशोरी ने लोक जीवन में प्रवेश किया। लोकगीतों, लोककथाओं और लोककलाओं से वह वनविहङ्गिनी पृथ्वी के सम्पर्क में आ गयी। पर्व-विशेष पर तरुण भी लोक-समारोहों

में सम्मिलित हो जाता। उसके प्रोत्साहन और निर्देशन से कलाओं की कल्पनातीत उन्नति होने लगी।

……वर्ष पर वर्ष बीत गये। कलाओं के साथ-साथ किशोरी का सर्वाङ्गीण विकास हो गया। मञ्जरी-सी मञ्जुला उस तरुणी आम्र-पाली में वनलक्ष्मी ही कला और सौन्दर्य से सुश्री हो गयी।

लोकगीतों से उसका कण्ठ खुल गया था, लोककथाओं से दृष्टि का प्रसार हो गया था, लोककलाओं से जीवन का छन्द मिल गया था, किन्तु क्या वह अपने मन की भाषा पा सकी ?

तारुण्य भी उसके लिए एक पहेली हो गया। किससे पूछे, कैसे पूछे, वाणी तो मूक हो जाती है।

अभी अपनी पहेली में ही उलझी हुई थी कि अचानक वैशाली से बुलावा आ गया। रुग्णशय्या पर पड़े हुए महाराज ने महानमन को स्मरण किया था।

बाबा ने पूछा—क्यों बेटी, वैशाली चलोगी।

"ना बाबा, अपना गाँव छोड़ कर मेरा मन कहीं नहीं लगेगा।"

महानमन् ने प्यार से उसका सिर थपथपा कर कहा— अम्बी, तू जानती नहीं, वैशाली की धूल में ही तेरा जन्म हुआ है। वहाँ के आम्र-कुञ्ज में तू धरती पर पड़ी हुई थी, महाराज ने तुझे अपनी गोद में उठा लिया था। वे बीमार हैं। क्या अपने धर्म्मपिता को प्रणाम नहीं करोगी !

आम्रपाली की आँखों में कृतज्ञता से आँसू छलक आये। उसने श्रद्धा और करुणा से विभोर होकर कहा—चलूँगी बाबा, मदन को भी साथ ले लो।

"महाराज पूछेंगे यह कौन है, तब क्या कहोगी ?"

……वह लजा गयी।

●

वैशाली—हास-विलासमयी वैशाली, अपने समय की अलकापुरी ! इसकी बाहरी चमक-दमक में स्वर्णराशि की कितनी झलमलाहट है ! उस ग्राम्या की अकृत्रिम आँखें चौंधिया गयीं। अरे, यहाँ कितनी चका-चौंध है, कितना चाकचिक्य है, कितना रेला-मेला है ! अपने चारों ओर

के चित्र-विचित्र वातावरण को वह कौतुक की दृष्टि से देख रही थी। उसका ग्रामीण कुतूहल इस मायापुरी का ओर-छोर नहीं पा रहा था, अपार संसार में वह निरवलम्ब कौमार्य्य की तरह आ गयी थी।

......महाराज के चरणों में प्रणत होकर महानमन् ने विनम्र अभिवादन किया। उसके झुकते ही पीछे खड़ी वह अमला सरला महाराज के दृष्टिपथ पर आ गयी। उन्होंने हर्षित होकर कहा—शुभमस्तु, यह कौन कुमुदिनी है महानमन्!

आम्रपाली ने आगे बढ़ कर महाराज के चरणों पर मस्तक रख दिया। महानमन् ने कहा—कृपालु महाराज, यह वही बालिका है जिसे आपने आम्रकुञ्ज में पाया था।

महाराज ने विस्मित और पुलकित होकर कहा—अरे, यह कितनी बड़ी हो गयी! आ बेटी, तनिक अपना तन-मन जुड़ा लूँ।

उन्होंने आम्रपाली का मस्तक उठा कर उसे अपने स्नेह-वत्सल वक्षस्थल से लगा लिया। प्यार से उसका माथा सूँघ लिया। उन्होंने अनुभव किया, इस वनबाला में प्रकृति की सुगन्ध है।

महानमन् की ओर देख कर उन्होंने कहा—मित्र, मेरा अन्त समय निकट है, जरा और व्याधि से मैं जर्ज्जरित हो गया हूँ। जाने के पहिले तुमसे कुछ बात कर लेना चाहता हूँ।

अरे, यह कैसा दुर्भाग्य!—माँ का मुँह नहीं देख सकी, अब ये धर्म्मपिता भी अपनी झलक देकर आँखों से ओझल हो जाना चाहते हैं!

आम्रपाली महाराज के वक्षस्थल पर फफक उठी। उसके आँसुओं से आर्द्र होकर महाराज ने उसका करुण कोमल मुख ऊपर उठाया, दुलार से उसकी ठोढ़ी पकड़ कर अपना आशीर्वाद दिया—रो मत बेटी, जिस परमात्मा ने तुझे मेरी गोद में दिया वही तेरी रक्षा करता रहेगा। अपने नाम के अनुरूप ही तू भूमा की मधुर कीर्त्ति बनेगी।

आम्रपाली ने पुनः प्रणत होकर अपने सजल अञ्चल से महाराज के चरणों को स्पर्श कर उसे अपने पलकों से लगा लिया।

महाराज ने महानमन् की ओर उन्मुख होकर कहा—हाँ तो मित्र,

मुझे अपने शरीर की चिन्ता नहीं है, यह तो क्षणभङ्गुर है। किन्तु भीतर की माया-ममता मानती नहीं, मुझे वैशाली के भविष्य की चिन्ता है।

महानमन् ने सविनय कहा—आप चिन्ता न करें, आपका पुण्य सदैव वैशाली का कल्याण करता रहेगा।

महाराज ने कहा—मेरा पाप-पुण्य तो मेंरे साथ चला जायगा नमन् ! मैं देख रहा हूँ, पुरानी पीढ़ी एक-एक कर चली जा रही है, नयी पीढ़ी उच्छृङ्खल होती जा रही है। उसका उत्साह रणोन्माद और प्रणयोन्माद में ही व्यक्त होता है। किन्तु रणनीति की भाँति समाज की भी अपनी एक व्यवस्था, एक रीति-नीति है। जो सामाजिक दृष्टि से दुर्विनीत होगा वह राजनीति में भी व्यवस्थित नहीं होगा। शौर्य्य और विलास एक बाह्य (शारीरिक) आस्फालन मात्र है, विवेक से ही वह प्राणवन्त हो सकता है। नयी पीढ़ी के उद्धत उत्साह को संयत कर देने के लिए पुरानी पीढ़ी के गम्भीर नेतृत्त्व की आवश्यकता है।

महाराज ने कुछ सुस्ता कर फिर कहा—राजकाज से तुम अवकाश ले चुके हो महानमन्, किन्तु जब तक नयी पीढ़ी परिपक्व नहीं हो जाती तब तक तुम-जैसों को अवकाश कहाँ ! वैशाली की गौरव-रक्षा के लिए मैं तुम्हें महाबलाधिकृत (सैनिक राजमन्त्री) नियुक्त करता हूँ।

राष्ट्रीय उत्तरदायित्त्व के इस गुरुतर भार से और भी नतमस्तक होकर वृद्ध महानमन् ने निवेदन किया—आपका आदेश शिरोधार्य्य है आर्य्य ! किन्तु पुरानी पीढ़ी और नयी पीढ़ी का सहयोग कैसे होगा ? केवल शासन से तो उसकी उच्छृङ्खलता अनुशासित नहीं होगी।

महाराज ने कहा—तुम्हारी आशङ्का ठीक है। शासन से दमन किया जा सकता है, मन नहीं जीता जा सकता। मनुष्य अपने अहङ्कार की तुष्टि चाहता है। दमन से उसका अहङ्कार आहत होकर प्रतिशोध के लिए उद्विग्न हो जाता है। वह अपने अहङ्कार को स्वयं अपते अङ्कुश से अनुशासित करे, इसके लिए उसमें बौद्धिक चेतना जगानी चाहिये। मनुष्य अनुभव करना चाहता है कि उसका भी कुछ महत्त्व है, इस अहम् को कोई रचनात्मक क्षेत्र न मिलने के कारण ही वह अनियन्त्रित हो

जाता है। तुमने देखा है न, वही अहम् किसी क्रीड़ा-प्राङ्गण में सुनियन्त्रित और मात्सर्य्य-रहित होकर कैसा दर्शनीय और प्रशंसनीय हो जाता है। सार्वजनिक क्षेत्र में उसी अहम् का सदुपयोग विचारों के आदान-प्रदान और सम्मिलित कार्य्यक्रम से किया जा सकता है। मैंने वैशाली को इसीलिए गणतन्त्र बना दिया है कि गण-परिषद् में सबको समवेत् होकर सोचने-विचारने और कर्त्तव्यनिष्ठ बनने का सुअवसर मिले। मस्तक पर एक उत्तरदायित्त्व आ जाने के कारण उच्छृङ्खल पीढ़ी को भी गृहस्थों की तरह धीर-गम्भीर हो जाना पड़ेगा।

महानमन् ने निवेदन किया—महाराज, आपके सदुद्देश्य को सफल करने का प्रयत्न करूँगा।

महाराज ने कहा—मित्र, वैशाली के गणतन्त्र में एक त्रुटि रह गयी है। अज्ञात कुल की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी को गणिका बनना पड़ता है। यह तो दास-प्रथा का ही सम्मानित रूप है। वैशाली के वैभवविलासी युवक अभी सुसंस्कृत नहीं हो सके हैं। विलास के लिए जो दूसरों को परतन्त्र करेगा वह स्वयं कैसे और कब तक स्वतन्त्र रह सकेगा। उसकी विलासिता ही उसे ले डूबेगी। राजनीतिक स्वतन्त्रता की रक्षा नैतिक बल से ही हो सकती है, कोरे शस्त्रों और वैभव से नहीं।

आम्रपाली एकाग्रचित्त से उस एकान्त वार्त्तालाप को सुन रही थी। सब बातें उसकी समझ में नहीं आ रही थीं, किन्तु एक शब्द ने उसे चौंका दिया—'गणिका,' यह कौन-सी विभीषिका है! उसके मुख पर आतङ्क छा गया।

महाराज ने उसके त्रस्त मुख की ओर देख कर उसे आश्वासन दिया—तू चिन्तित मत हो बेटी! नाबालिग कन्याओं की जैसे कोई लाज नहीं लूट सकता वैसे ही बालिग कन्याओं को उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई अपनी प्रणयिनी नहीं बना सकता। तू स्वयंवर के लिए स्वतन्त्र है। यदि तुझे कोई मनोनुकूल साथी मिल जाय तो उसे वरण कर लेना, अन्यथा, सारी वसुधा का ऐश्वर्य्य मिल जाने पर भी अपनी अन्तरात्मा को कुण्ठित मत करना। गणराज्य के धनवान एक ओर नारी को

गणिका बनाते हैं, दूसरी ओर कुलीनता की रक्षा का ढोंग करते हैं। वे निर्धन कुलकन्याओं से अँधेरे में कुछ काम कराकर पारिश्रमिक के रूप में उन्हें सत्तू का पिण्ड देते हैं, उस पिण्ड में मर्य्यादापूर्वक जीवन-निर्वाह करने के लिए स्वर्ण-खण्ड गुप्त रहता है। इसे 'लज्जापिण्ड' कहते हैं। गणिका को भी स्वर्ण मिलता है, किन्तु वह उसकी निर्लज्जता का शुल्क या पुरस्कार कहलाता है। तू किसी के दान अथवा पुरस्कार के प्रलोभन से अपना अमूल्य जीवन मत नष्ट करना। यदि तुझे अपने मन का साथी मिल गया तो ठीक, नहीं तो यह राजप्रासाद और निजी सम्पत्ति तुझे दे दूँगा। मैं चाहता हूँ, ऐश्वर्य्य के दर्पण में विलास से अपना विकृत मुख देखने वाले वैशाली के तरुण तुझी से सामाजिक मर्य्यादा सीखें। सम्पत्ति, संस्कृति और कला से तू ही ऋद्धि-सिद्ध हो जा, तू ही वैशाली बन जा बेटी !

भविष्य के शुभ स्वप्नों में समाधिस्थ अपने आपमें एकाकी महाराज अनुकूल अवसर पाकर वर्षों बाद मुखर हो उठे थे। इस लम्बे प्रवचन से वे परिश्रान्त हो गये। आम्रपाली ने उनके चरणों में द्रवित चित्त से प्रणत होकर निवेदन किया—आप विश्राम करें तात ! मैं आजीवन आपके आदेश का पालन करूँगी। श्रीचरणों का आशीर्वाद मुझे मेरे कर्त्तव्य का स्मरण दिलाता रहेगा।

महाराज ने उसके मस्तक पर दैवी छाया की तरह अपना हाथ रख कर कहा—एवमस्तु।

●

महानमन् ने सोचा था—कुछ अवकाश मिलते ही आनन्दग्राम लौट कर आम्रपाली के प्रिय पात्र से उसका पाणिग्रहण करा दूँगा। किन्तु राजनीतिक उलझनों में वह वृद्ध महावलाधिकृत ऐसा उलझ गया कि उसे आम्रपाली की ओर ध्यान देने का अवसर ही नहीं मिला। इस बीच वैशाली के अन्तःपुर में आम्रपाली के सौन्दर्य्य और सुरुचि की चर्चा होने लगी। महिलाओं ने अपने आपमें तुच्छ होकर कहा—ओह, इतनी

सुषमा तो वैशाली में कभी देखी ही नहीं गयी ! यह नन्दनवन की कोई देवाङ्गना है ! !......

वैशाली के तरुणों में हलचल मच गयी। आम्रपाली की एक झलक पा जाने के लिए उनका चित्त चञ्चल हो उठा। किन्तु महाराज के नियमन और महानमन् के अनुशासन के कारण उनकी तीव्र लालसा म्यान में तलवार की तरह ढँकी रह गयी।

एक वर्ष बाद महाराज का स्वर्गवास हो गया। मातृहीना आम्रपाली उन पुण्यचरणों का सम्बल छूट जाने के कारण फिर अनाथ हो गयी। महानमन् के भी सम्बल महाराज थे, अब वह महाबलाधिकृत भी निर्बल पड़ गया।......

वैशाली के तरुण अनियन्त्रित और उतावले हो उठे। वे आम्रपाली की झलक पाने के लिए ही नहीं, उसे स्वायत्त करने के लिए आपस में होड़ करने लगे। वैशाली के अष्टकुल के राजकुमारों, सामन्तपुत्रों और श्रेष्ठियो के वंशधरों की ओर से प्रणय के आवेदन और उपहार आने लगे। अनढ़ा आम्रपाली समझ नहीं सकी, यह सब क्या मायाजाल है ! फिर भी उसने अपनी स्वभाव-सहज अन्तःप्रेरणा से उन आवेदनों और उपहारों को अस्वीकार कर दिया।

आम्रपाली की अस्वीकृति से अपमानित होकर वैशाली के तरुण तिलमिला उठे। वे आपसी प्रतिद्विन्द्वता छोड़ कर आम्रपाली से प्रतिशोध लेने के लिए एक हो गये। उनका असन्तोष गणपति और महामात्य के कानों तक जा पहुँचा। दोनों चिन्तित हो उठे। उन्होंने आपस में परामर्श किया—कामिनी के लिए वैशाली के कञ्चनकुमारों की तरुण-शक्ति का ह्रास राष्ट्रीय दृष्टि से अहितकर है। किसी भी मूल्य पर उनकी शक्ति का राजनीतिक सदुपयोग करना चाहिये।

......महामात्य ने महानमन् को आमन्त्रित किया। वस्तुस्थिति समझा कर उसने आदेश दिया—आम्रपाली को गण-सन्निपात में उपस्थित करो।

महानमन् की भृकुटि कुञ्चित हो गयी। कुछ बोला नहीं। मौन

भाव से आदेश स्वीकार कर वह मर्म्माहत हृदय से घर चला आया। उसे चिन्तित देख आम्रपाली ने पूछा—बाबा, उदास क्यों हो ?

महानमन् उफन पड़ा—देखो इन पिशाचों को, महाराज के दिवङ्गत होते ही उनकी राख पर होली खेलना चाहते हैं !

बाबा के रोष का स्पष्ट कारण जानने के लिए आम्रपाली मचल उठी। जैसे बच्चे अपनी हठ रखने के लिए माँ के कन्धे पर मुख रख कर मुनमुनाने लगते हैं वैसे ही वह बाबा के कन्धे पर सिर रख कर कलमलाने लगी। उसके शैशव का अमृतस्पर्श पाकर महानमन् का रोष शीतल हो गया। उसका सिर सहलाते हुए बृद्ध ने कहा—बेटी, वैशाली का गणतन्त्र तुझे गणिका बनाना चाहता है। महाराज तुझे इसी बिभीषिका से सावधान कर गये हैं।

आम्रपाली को महाराज की बातें याद आ गयीं। उस समय तो वह अच्छी तरह समझ नहीं सकी थी, अब इतने दिनों के अनुभवों से नागरिक अभिव्यक्तियों को समझने लगी थी। उसके सामने आवेदनों और उपहारों का अभिप्राय स्पष्ट हो गया। उसने खिन्न होकर कहा—बाबा, यदि मैं वैशाली से चली जाऊँ तो कैसा हो !

महानमन् ने कहा—तू जहाँ कहीं जायगी, अपनी रसना लपलपाते हुए दुष्ट तेरा पीछा करेंगे, उनकी दुर्दृष्टि हिंसक पशुओं की तरह तीक्ष्ण है।

आम्रपाली सोच में पड़ गयी। उसने कहा—बाबा, क्या कला के द्वारा दुष्टों को सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता ?

महानमन् ने प्रसन्न होकर कहा—यह तूने ठीक सोचा। ये नरपशु अपनी मनुष्यता दिखाने के लिए कला के गुणग्राहक होने का ढोंग करते हैं। तू कला के सम्मोहन से ही इनके उद्धत पशुत्त्व को मूर्च्छित कर दे।

आम्रपाली ने कहा—तो बाबा, मैं आत्मरक्षा के लिए कला की ही शरण लूँगी। आप गण-सन्निपात से कह दीजिये—मैं राज्य के कला-विभाग की सेवा करूँगी। जनपद के कल्याण के लिए इसकी भी तो आवश्यकता है। मैं परमुखापेक्षी अबला नहीं बनूँगी। मुझे किसी का

ऐश्वर्य्य नहीं चाहिये। महाराज मुझे जो कुछ दे गये हैं, मेरे लिए वही पर्य्याप्त है। मेरे प्रासाद में मेरा ही स्वतन्त्र शासन रहेगा, आवा-गमन मेरे ही नियमों के अनुसार होगा, राज्य उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकेगा।

महानमन् ने कहा—धन्य बेटी, तेरे वक्तव्य में कला का स्वाभिमान है। मैं इसे ज्यों का त्यों महामात्य और गणपति के पास भेज दूँगा।...

यथासमय गण-सन्निपात के संथागार और उसके प्राङ्गण में सारी वैशाली उमड़ पड़ी। लोगों के कुतूहल का आर-पार नहीं था। वैशाली की राज्यश्री (आम्रपाली) का भाग्य-निर्णय होने वाला था।

एकाएक सहस्रों स्वर्णघण्टियों की टुनटुनाहट से लोगों की उत्सुक दृष्टि राजपथ की ओर दौड़ गयी। श्वेत कौशेय से मढ़ा और स्वर्ण-कलश पर श्वेत पताका फहराता एक रथ चला आ रहा था। संथागार के प्राङ्गण में पहुँच कर वह रुक गया। उस पर से श्वेतस्मश्र एक भव्य वृद्ध राजपुरुष उतर पड़ा। वह था महाबलाधिकृत महानमन्। वृद्ध एक तरुण के दाहिने कन्धे का सहारा लेकर संथागार की सीढ़ियों पर चढ़ने लगा।

प्रत्याशी युवक भड़क उठे। उन्होंने कहा—यह क्या, गणसन्निपात ने जिसका आह्वान किया था वह तो अनुपस्थित है। एक उद्धत युवक ने आगे बढ़ कर महाबलाधिकृत का मार्ग रोक लिया। वृद्ध का सैनिक दर्प जाग उठा। उसका हाथ अपने खड्ग की मूठ पर चला गया। युवक राजदण्ड के भय से तेजोहत होकर पीछे हट गया।

महाबलाधिकृत महामात्य और गणपति की वेदी (विचारासन) के सम्मुख जाकर खड़ा हो गया। गणपति ने सदस्यों की ओर उन्मुख होकर कहा—सज्जनो, आप लोग सन्निपात की मर्य्यादा के अनुसार शान्त और गम्भीर होकर विचार-विमर्श करें; किसी प्रकार की उत्तेजना से समय का अपव्यय न करें।

चारों ओर निस्तब्ध शान्ति छा गयी।

गणपति ने प्रत्यभिवादन से महानमन् का प्रत्यभ्युत्थान स्वीकार कर पूछा—हाँ तो भन्ते, आपका क्या मन्तव्य है ?

महानमन् ने कहा—मेरी पुत्री आम्रपाली वयस्का हो गयी है, मेरी अभिभावकता का समय पूर्ण हो चुका है। विधान के अनुसार अब वह आत्मनिर्णय के लिए स्वतन्त्र है। उसका वक्तव्य उसी के मुँह से सुनें।·····

शान्त वातावरण फिर विक्षुब्ध हो उठा। सामन्तवादी युवक चिल्ला पड़े—नारी पुरुषों की दासी है, वह कभी स्वतन्त्र नहीं हो सकती। उसे हम अपनी शक्ति से स्वायत्त करेंगे।

उनके हाथ अपने-अपने खड्ग की मूँठ पर चले गये। गणपति ने अनुशासित करते हुए कहा—आप लोग जिस गणतन्त्र का लाभ उठाना चाहते हैं, उस गणतन्त्र की वैधानिक सुविधा दूसरों को भी मिलनी चाहिये। स्वार्थ से गणतन्त्र का अस्तित्त्व समाप्त हो जायगा। आप लोग आम्रपाली का भी वक्तव्य सुनिये। उधर देखिये, वह चली आ रही है।·········

सबकी दृष्टि संथागार के प्राङ्गण की ओर दौड़ गयी। एक अवगुण्ठनवती नारी धीर गम्भीर गति से सीढ़ियों को पार कर वेदी के पास महानमन् के पार्श्व में जा खड़ी हुई। उसने नतमस्तक होकर महामात्य और गणपति को मौन अभिवादन किया। गणपति ने उसका स्वस्त्ययन करते हुए वक्तव्य देने का आदेश दिया।

वक्तव्य देने के लिए जब उसने अपना अवगुण्ठन हटाया तब उस की सौन्दर्य्यद्युति देखकर सब चकित हो गये—

"चञ्चला स्नान कर आवे
चन्द्रिका-पर्व में जैसी,
उस पावन तन की शोभा
आलोक-मधुर थी ऐसी।"

आम्रपाली के ओठ हिले, मानों सौन्दर्य्य में चेतना का कम्पन हुआ, उसका विकल हृदय आलोड़ित हो उठा—

"सज्जनो, मैं किसी के कोषागार की जड़ सम्पत्ति नहीं हूँ और न किसी के निष्ठुर मनोविनोद की मृगया हूँ। कोई भी नारी नहीं हो सकती। आप लोगों की तरह वह भी जीवित प्राणी है, राष्ट्रीय प्रजा है। अपने संवेदन से उसके जीवन पर सहानुभूति पूर्वक विचार कीजिये। उसे गणतन्त्र की गणिका नहीं, गृहिणी बनने का अवसर दीजिये। वैशाली से गणिका की प्रथा उठा कर अपने आभिजात्य को गौरवान्वित कीजिये। मैंने अपनी प्रस्तावना महामात्य को लिख कर दे दी है, वे उसे आपके सामने उपस्थित कर देंगे। यदि मेरी प्रस्तावना स्वीकार न हो और आप लोग मेरे रक्त-माँस के लिए ही लालायित हों तो अपने वधिक को मेरे प्रासाद में भेज दीजियेगा।"

अपना वक्तव्य देकर आम्रपाली फिर अवगुण्ठिता हो गयी। महानमन् को अपने कन्धे का सहारा देकर उनके साथ संथागार से चली गयी।

उसके चले जाने पर लोगों ने अनुभव किया—एक बिजली चमकी और तपक कर तड़ित की तरह ओझल हो गयी। कुछ देर के लिए संथागार में सन्नाटा छा गया, लोग अपने आपमें खो गये थे।

गणपति के सम्बोधन से स्तब्ध जनपद फिर सजग हो उठा। उन्होंने कहा—माननीय सदस्यगण सुनें, आम्रपाली ने निवेदन किया है कि स्वयंवर-द्वारा मैं भी कुल वधू बनना चाहती हूँ।

इस घोषणा से राजकुमारों, सामन्तों और श्रेष्ठियों के पुत्रों में प्रतिस्पर्द्धा प्रज्वलित हो उठी। सब आपस में ही लड़-कट-मरने के लिए उतारू हो गये। वातावरण को उष्ण देख कर गणपति ने आश्वासन दिया—आम्रपाली का दूसरा विकल्प यह है कि कुलवधू बनने का अवसर न मिलने पर मैं आजीवन अविवाहिता रहूँगी, केवल कला के द्वारा राज्य की सेवा करूँगी।

तरुणों का तात्कालिक द्वेष शान्त हो गया। आम्रपाली के सार्वजनिक सान्निध्य की आशा से उन्होंने सन्तोष की साँस ली। वातावरण को अनुकूल पाकर गणपति ने पुनः कहा—आम्रपाली चाहती है कि उसकी

राजकीय मर्य्यादा पूर्ववत् बनी रहे। उसका आवास दुर्ग की भाँति सुरक्षित और स्वतन्त्र रहे। गणिकाध्यक्ष आने जाने वाले अतिथियों की जाँच-पड़ताल न करें।

तरुणों ने इस इच्छा का विरोध नहीं किया, उन्हें यह अपने लिए सुविधाजनक जान पड़ी। किन्तु वृद्ध कूटनीतिज्ञों को यह स्वच्छन्दता राजनीतिक दृष्टि से वाञ्छनीय नहीं जान पड़ी। उन्होंने अपना असन्तोष प्रकट किया। वृद्धों के रूखे रुख से तरुण उत्तेजित हो उठे। उनकी आँखों में आम्रपाली की जो अलौकिक विद्युत द्युति कौंध गयी थी उसे स्मरण कर उन्होंने अनुभव किया—वह वैशाली ही नहीं, सारी पृथ्वी से परे है; उसके लिए नियम भी उसी की तरह असाधारण होने चाहिये।

तरुणों को बहकते देख कर सन्धिविग्राहिक ने उन्हें सचेत किया—महानुभाव भावावेश में वस्तुस्थिति को न भूल जायँ। वैशाली पर शत्रुओं की शनिदृष्टि लगी हुई है। आस-पास के राजतन्त्र साम्राज्य-विस्तार के लिए इसे हड़प लेना चाहते हैं। आम्रपाली के प्रासाद को यदि सर्व-तन्त्र स्वतन्त्र छोड़ दिया जायगा तो शत्रुओं के गुप्तचर भी वहाँ आकर षड्यन्त्र करने लगेंगे। जिस वैशाली ने आपको जीवन दिया है क्या उसे शत्रुओं-द्वारा पदाक्रान्त होना आप पसन्द करेंगे ?

संथागार में फिर सन्नाटा छा गया। कुछ क्षणों के बाद नवयुवकों में फुसफुसाहट शुरू हो गयी। एक ने कहा—तो आप लोग आम्रपाली पर अविश्वास करते हैं !

सन्धिविग्राहिक ने कहा—हम आम्रपाली का उतना ही विश्वास करते हैं जितना आप लोगों का। किन्तु जैसे वैशाली की सुरक्षा के लिए आप लोगों के लिए कुछ नियम हैं वैसे ही आम्रपाली के लिए भी कुछ नियम आवश्यक हैं।

एक सहृदय नवयुवक ने कहा—आम्रपाली तो अपनी स्वतन्त्रता के लिए प्राणों की बाजी लगा कर गयी है, वह क्या आपके नियम मानने के लिए बाध्य होगी !

गणपति ने कहा—हमें ऐसा उपाय करना चाहिये कि आम्रपाली

की स्वतन्त्रता का हनन भी न हो और नियम का पालन भी हो जाय। उसका आवास दुर्ग की भाँति सुरक्षित और स्वतन्त्र रहे, आवश्यकता पड़ने पर आने जाने वालों की जब जाँच करनी हो तब आम्रपाली को इसकी सूचना एक सप्ताह पहिले दे दी जाय।

इस सुझाव से सब लोग सहमत हो गये।

·······आम्रपाली के प्रासाद में उपस्थित होकर गणपति ने आशीर्वाद देते हुए कहा—तुम्हारी प्रस्तावना सन्निपात को स्वीकार है भद्रे, किन्तु वैशाली की रक्षा के लिए पुरुषों की तरह स्त्रियों को भी कुछ त्याग करना चाहिये।

किसी दुस्तर प्रस्ताव की आशङ्का से आम्रपाली चिन्तित हो उठी। गणपति के मनोभावों का आभास पाने के लिए वह उसके मुख की ओर सशङ्क दृष्टि से देखने लगी।

गणपति ने कहा— भद्रे, उदास न हो। तुम्हें अपने सुखों का त्याग नहीं करना है, केवल वैशाली की स्वतन्त्रता के लिए अपनी स्वतन्त्रता को कुछ सीमित कर लेना है। स्वयंवर से तरुणों में गृहयुद्ध हो जायगा, अतएव तुम कुलवधू भी नहीं, गणिका भी नहीं, कला की पुजारिणी कन्याकुमारी ही बनी रहो। यह इच्छा तुमने भी व्यक्त की थी।

आम्रपाली सोच में पड़ गयी—यह आदेश बरदान है या अभिशाप? जिसके लिए यौवन अभी तक एक अनबूझ पहेली है वह क्या जाने अपनी इच्छा। क्या कला उसे तृप्त कर सकेगी? कुछ क्षणों बाद उसमें कौमार्य्य का आत्मविश्वास जाग उठा। भावावेश में वह भविष्य को भूल गयी। उसने उत्साहित होकर कहा—यदि राष्ट्र का भला मेरी कलासेवा से ही हो सकता है तो मुझे वही शिरोधार्य्य है आर्य्य!

गणपति ने उसे साधुवाद देते हुए कहा—भद्रे,वैशाली को जैसे गृहयुद्ध से बचाना है वैसे ही इसे विदेशी शत्रुओं के अभियान से भी बचाना है। उनके गुप्तचर तुम्हारे स्वतन्त्र प्रासाद का अनुचित उपयोग कर सकते हैं, अतएव कभी-कभी आने-जाने वालों की जाँच-पड़ताल होती रहेगी।

आम्रपाली को ऐसा जान पड़ा कि वह स्वतन्त्र होकर भी परतन्त्र

है। उसका अस्तित्त्व उसके लिए नहीं, राजनीति के लिए है। उसे कुल-वधू होने का अवसर नही दिया गया, अब उसके एकाकी जीवन को भी अनुबन्धित किया जा रहा है। इतनी बड़ी सृष्टि में न जाने कहाँ कौन प्राणी उसी की तरह एकाकी और विकल होगा, वह उसे जान नहीं सकती, अपना नहीं सकती, कैसी बेबसी है !

आर्त्त होकर उसने गणपति से कहा—आर्य्य, यह प्रतिबन्ध तो असह्य है।

गणपति ने मृदुल होकर कहा—भद्रे, यह प्रतिबन्ध नहीं, आपद्धर्म्म है। जब कभी इसकी आवस्यकता होगी, तुम्हें एक सप्ताह पहिले सूचना दे दी जायगी। तुम्हारा जीवन-क्रम ज्यों का त्यों चलता रहेगा।

खुली हवा में साँस लेने के लिए मानों एक खिड़की पाकर आम्रपाली ने कहा—तो यह आपद्धर्म्म मुझे स्वीकार है आर्य्य !

गणपति ने प्रसन्न होकर उसे तुभाशोर्वाद दिया और सन्तुष्टचित्त से चला गया।

●

वसन्त के एक सुरभित प्रभात में सारी सृष्टि उल्लसित हो उठी। आज वैशाली की वसन्त-श्री आम्रपाली का कलाभिषेक है।

तरुण अरुण की स्वर्ण रश्मियों से जगमग होकर आम्रपाली के प्रासाद से उसकी शोभायात्रा निकली। उसका विमान वसन्त के समस्त पुष्पों से सुसज्जित था। विमान पर निराभरणा आम्रपाली श्वेत कौशेय के अन्तरवासक पर पीताभ उत्तरीय से आच्छादित होकर लज्जा की मूर्त्ति बनी बैठी थी। उसके स्वागत में पथ और वीथिकाएँ माङ्गलिक उपकरणों से सजी हुई थीं।

पथ पर खड़े नागरिक और वातायन से झाँकतीं कुलललनाएँ आम्रपाली पर अक्षत और पुष्प बरसा रही थीं।

विमान मंगल पुष्करिणी के द्वार पर पहुँच गया। द्वार पुष्करिणी की नैसर्गिक शोभा के अनुरूप ही प्रकृति के पुष्प-पल्लवों से सजाया गया था। किसी विशेष राजकीय अवसर पर इस पुष्करिणी में अष्टकुल के

सम्मानित सदस्य ही स्नान कर सकते थे। ऐसा विश्वास किया जाता था कि इसके जल में वैशाली के लिच्छवियों के पूर्वजों के शरीर की पुण्य-गन्ध मिली हुई है। जो इसमें स्नान करेगा वह उन पूर्वजों का सुफल पा जायगा। विदेशी राजाओं और राजमहिषियोंने इस पुष्करिणी में स्नान करने के लिए कई बार चढ़ाई की, किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। आम्रपाली के अनुपम व्यक्तित्त्व को राजकीय मान्यता देने के लिए पुष्करिणी के पुण्यसलिल से ही उसका कलाभिषेक करने का आयोजन किया गया था।

गणपति ने हाथ का सहारा देकर आम्रपाली को विमान से उतारा। सीढ़ियों पर विविध सौगन्ध दिलाते हुए पुष्करिणी में घुटनों तक ले जाकर हाथ में जल देकर गणपति ने उसे वैशाली की मर्य्यादा-रक्षा की अन्तिम शपथ दिलाई।

औपचारिक कृत्य पूर्ण हो जाने पर गणपति ने जन-समुदाय को सम्बोधित कर घोषित किया—सज्जनो, आजसे आम्रपाली वैशाली की जनपदकल्याणी है।

अपने नये जीवन में निमज्जित होने के लिए आम्रपाली ने पुष्करिणी में स्नान किया। पुष्करिणी का स्वक्छ सलिल उसके कौमार्य्य की तरह ही निर्म्मल था। वह स्नान करके जब बाहर आयी तब ऐसा जान पड़ा मानों अमृत के सरोवर से अमृतकन्या का आविर्भाव हुआ है। ऐश्वर्य्य के सम्पूर्ण प्रसाधनों से उसका राजलक्ष्मी-जैसा शृङ्गार किया गया। स्वर्ण परिधान से आच्छादित होकर भी वह वनलक्ष्मी-सी अकृत्रिम थी। पुष्पाभरण ही उसके अलङ्करण थे।

प्रत्यावर्त्तन में सामन्तों और श्रेष्ठियों के पुत्रों ने विमान अपने कन्धों पर उठा लिया। प्रासाद-द्वार पर विमान से उतरते ही आम्रपाली के सम्मान में प्राचीरों से सैकड़ों तूर्य्य बज उठे।

अभिषेक का उत्सव तीन दिन तक चलता रहा। नृत्य, गान, वाद्य, नाट्य से वायुमण्डल आलोड़ित-विलोड़ित-कल्लोलित हो उठा। वर्षों

बाद वैशाली का कलामण्डल समवेत् होकर अपनी सम्पूर्ण आभा से जगमगा उठा।.........

धीरे-धीरे सङ्गीत के गुञ्जार की तरह समारोह समाप्त हो गये। निःशब्द निर्जन का सूनापन आम्रपाली के मन में छा गया। भोर की तारा की तरह वह एकाकिनी सोचने लगी—कल तक कलामण्डल उसे रिझा रहा था, अब कलामण्डल को जीवन देने के लिए उसे तपना पड़ेगा। कला के इस ऊष्म उत्तरदायित्व से वह एकाएक अत्यन्त उद्दीप्त हो उठी, किन्तु क्षण भर बाद ही चिन्ता से म्लान हो गयी—आह, उन्हें भी तो रिझाना पड़ेगा जिनके लिए कला केवल विलास है। जिसका जीवन अभी अपने ही लिए एक अशान्त समस्या है, वह सबका मन कैसे बहला सकेगी !

कई दिनों के अन्तर्द्वन्द्व के बाद वह इस निष्कर्ष पर पहुँची—उदास होकर व्यथा को विज्ञापित करना उपहासास्पद है। कला सबको रिझा कर भी निःसङ्ग रह सकती है, जैसे वायु सबको लहरा कर भी निर्लिप्त रहती है।

कला की क्षमता से आश्वस्त होकर उसने सबके लिए अपने प्रासाद का द्वार खोल दिया। जीवन की आर्द्रता में ही इन्द्रधनुषी छटा धारण कर लिया, सघन विषाद में ही चपला का चपल लास्य किया।

प्रारम्भ में वह नित्य नये अभ्यागतों के प्रति कुतहल में भूली रही, किन्तु इस तरह क्या व्यथा भुलाई जा सकेगी ! जैसे मनोरञ्जन के लिए सबको समय चाहिये वैसे ही आत्मशान्ति के लिए उसे भी तो समय चाहिये। किन्तु जिसकी साँसें सार्वजनिक हो चुकी हैं उसके लिए व्यक्तिगत समय कहाँ ! अर्द्धरात्रिके बाद भाराक्रान्त होकर जब वह सोने चली जाती तब ?—

"उच्छ्वास और आँसू में
विश्राम थका सोता है
रोई आँखों में निद्रा
बन कर सपना होता है।"

—क्या यही कला की निःसङ्गिता है !

शृङ्गार और मनोरञ्जन, इस एकरस-नीरस दिनचर्य्या से आम्रपाली ऊब गयी। अपने अतीत के लिए वह आकुल-व्याकुल हो उठी। याद आये उसे वात्सल्यचरण पितृ-द्वय—महाराज और महानमन्। शुक-सारिका की तरह वह उनका कितना दुलार पा रही थी। याद आया उसे अपना आनन्दग्राम जहाँ उसका शिशुकण्ठ फूटा, कैशोर्य्य हँसा-खेला और किसी के स्नेह-स्निग्ध सङ्गीत से हृदय सरस हो गया। अब कहाँ है वह वात्सल्य, कहाँ है वह ग्रामीण उल्लास, कहाँ है वह मुरली का कलरव ! जीवन जैसे रस की सीठी मात्र रह गया।

वाध्य होकर उसे अपनी दिनचर्य्या में परिवर्त्तन करना पड़ा। अपराह्न का समय उसने अपने एकान्त-चिन्तन के लिए सुरक्षित कर लिया। उस समय वह अपने प्रासाद के रम्य उपवन में जाकर सरोवर के तट पर अथवा किसी लताकुञ्ज में बैठ जाती। वहाँ उसे आनन्दग्राम का नैसर्गिक वातावरण मिल जाता। सखा नहीं, सखियाँ नहीं, स्मृतियाँ ही उसे गुदगुदाती-सहलाती रहतीं। चिड़ियों की चहचहाहट से जब उसकी तन्द्रा टूट जाती तब वह अपने एकाकीपन में सिहर उठती, विकल विह्वल कण्ठ से गा उठती—

चिड़ियाँ सँग-सँग उड़ती फिरतीं
सागर से मिलतीं नदियाँ,
मैं दुखिया री बिछड़ गयी
काके सँग खेलूँ फाग ?

.........एकान्त-चिन्तन से ज्यों-ज्यों उसकी विकलता बढ़ती गयी त्यों-त्यों शृङ्गार और मनोरञ्जन की तरह विरह भी उसे असह्य हो गया। उसने अनुभव किया—भीतर का सूनापन बाहर के एकान्त से नहीं भरा जा सकता। इसे तो शून्य आकाश की तरह ही सृष्टि के क्रीड़ा-कलरव से गुञ्जायमान करना होगा। आवें, सब आवें, सभी दिशाओं की ललक-पुलक ले आवें।

अब तक उसका कलाक्षेत्र वैशाली तक ही सीमित था। पृथ्वी की

विशदता और नवीनता पाने के लिए उसने कला का क्षेत्र दिग्दिगन्त तक विस्तृत कर दिया। उसके प्रासाद में सभी जनपदों की लोककलाओं के कलाकार आने लगे।

अचानक एक दिन उसका चिरउदास मन उत्फुल्ल हो उठा। दो सुदर्शन ग्रामीण कलाकारों को देख कर उसकी आँखें निहाल हो गयीं। समय के व्यवधान में भी एक को उसने पहिचान लिया, वह था उसके कैशोर्य्य का रागप्रेरक मदन। दूसरा......कौन था? वह था कला का उपासक कौशाम्बीपति उदयन, लोकविख्यात वीणावादक। आम्रपाली की कीर्त्ति सुना कर ग्रामीण वेश में वैशाली चला आया था।

उस अज्ञात कलापुरुष के प्रति आम्रपाली का कुतूहल बढ़ गया। उसका परिचय पाने के लिए उत्सुक हो उठी, किन्तु सङ्कोच से कुछ पूछ नहीं सकी। उसके व्यक्तित्व के कलात्मक आकर्षण में ही वह उसे हृदयङ्गम करने का प्रयत्न करने लगी।

आम्रपाली ने देखा—उस मौन कलासाधक के मनोभाव बिना बोले ही रह-रह कर उसकी उँगलियों में स्फुरित हो उठते हैं। उसकी सारी इन्द्रियाँ उँगलियों में ही समाविष्ट हो गयी हैं। अरे, इन उँगुलियों में वीणा की स्वरलहरियों की कितनी कलाभङ्गिमा है।

आम्रपाली का हृदय उन उँगुलियों की कलाभङ्गिमा पर भीतर-ही भीतर बल खा गया, बाहर उसका सर्वाङ्ग क्षणभर के लिए हृदयावेग से हिल गया।.........

अपराह्न में मदन ने अपनी बंशी बजाई। बिछुड़े दिनों का विषाद उसके स्वर में उच्छ्वसित हो उठा। आम्रपाली ने अनुभव किया-एक दिन जिस बंशी ने उसके हृदय को विदीर्ण कर दिया था, वह बंशी भी अब उसी की तरह विकल हो गयी है। दोनों की अन्तर्वेदना का स्वर-सम्मिलन हो गया। किन्तु दोनों विवश थे, कौन किसे कैसे सान्त्वना दे! अपनी करुण शान्ति लेकर सन्ध्या आ गयी। उसकी नीरवता को प्राणप्रण से प्रकम्पित कर बंशी की अन्तिम ध्वनि शून्य में तिरोहित हो गयी।

आम्रपाली कैशोर्य्य के धुँधले स्वप्नों में खो गयी थी। चाँदनी

छिटक जाने पर उसकी चेतना लौट आई। उसके अनुरोध से उदयन ने अपनी वीणा सँभाली। ज्यों-ज्यों तारों पर उँगुलियाँ थिरकने लगीं त्यों-त्यों आम्रपाली के ललित-कलित चरण नृत्य के लिए चञ्चल हो उठे। स्वर के सम्मोहन से वह ऐसी वशीभूत हो गयी कि संसार को भूल गयी; देश नहीं, काल नहीं, उसके सामने केवल कला रह गयी। उसी की दुर्निवार प्रेरणा से वह निःसङ्कोच नृत्य करने लगी।

वीणा के राग और उसके मनोराग में ऐसा साम्य सध गया कि वह स्वर की साकार अभिव्यक्ति हो गयी। भाव की तन्मयता में उस राजनर्त्तकी का स्वर्ण परिधान खिसक गया, दूसरे क्षण यौवन का बसंती वसन भी छूट गया, रह गया आत्मा से देहावरण की तरह सम्पृक्त उसके कौमार्य्य का श्वेत कौशेय अन्तरवासक। इस विमल वेश में वह ऐसी शोभना जान पड़ी मानों आकाश की शुक्रतारिका पृथ्वी पर उग आई हो।

उँगुलियों को नयी गति देने के लिए उदयन ने जब दृष्टि ऊपर उठायी तब उसकी आँखों में वह शुभ्र छवि झलक गयी। क्षणिक विराम पाकर आम्रपाली ने गति-सन्धान के लिए उदयन की ओर देखा, आँखों ही आँखों में कला और कलाकार तदाकार हो गये। कौन किसे धन्य-वाद दे! उदयन ने वीणा में स्वस्ति का तार बजाया, आम्रपाली ने नृत्य में कृतज्ञताज्ञापन किया। समारोह सम्पन्न हो गया।

विदा के दिन आम्रपाली असमञ्जस में पड़ गयी—मदन और उदयन, इनमें से किसे रोके, किसे जाने दे। दोनों ही तो उसी के मन के मानव हैं। उसी की मनःस्थितियों के प्रतीक हैं। एक ने उसके एकाकी जीवन की विकलता जगा दी, दूसरे ने उसके अक्षुण्ण व्यक्तित्त्व (कौमार्य्य) की चेतना जगा दी। अरे, ये दोनों अतिथि कैसे चिरकाल तक साथ रह सकते हैं! एक साथ दोनों कैसे अपनाये जा सकते हैं?.........

उसकी सहानुभूति लेकर जब मदन चला गया तब आम्रपाली ने उदयन की ओर श्रद्धा की दृष्टि से देख कर पूछा—सौम्य, आपका शुभ परिचय?

उदयन ने मुस्करा कर कहा—शुभे, अब भी क्या मेरे परिचय की

आवश्यकता है ! विना पूर्व परिचय के जिसने मेरी कला को अपने नृत्य में साकार कर दिया, वह तुम स्वयं मेरा परिचय हो। कला ही कलाकार का परिचय है।

आम्रपाली ने लज्जित होकर कहा—सुविद्, अभी मैं स्वयं अपने से ही अपरिचिता हूँ, इसीलिए आपका परिचय पूछ रही हूँ। आपकी कला का मर्म्म क्या है ?

उदयन ने देखा, यह कुमारिका अभी अपने यौवन की पहेली में ही उलझी हुई है, इसमें रसात्मक प्रेरणा है, किन्तु अनुभव के अभाव में विकल है। उसने सदय होकर कहा—देवि, कला का मर्म्म स्वान्तः-सुख है।

आम्रपाली अपनी उलझन में और भी उलझ गयी। उसने हैरान होकर कहा—स्वान्तःसुख क्या है सुहृद ?

उदयन ने समाधान किया—आत्मतृप्ति ही स्वान्तःसुख है देवि ! इस वीणा और नृत्य को ही लेकर अनुभव करो न। मैंने वीणा बजायी, तुमने नृत्य किया, कला के इन दो भिन्न माध्यमों से हम दोनों ने अपने आपको सन्तुष्ट किया। वह कौन है जो शरीर से भिन्न होकर भी आत्म-सन्तोष में अभिन्न हो गया ? वह है सब का स्वात्म, उसी का स्वगत सन्तोष स्वान्तःसुख है।

आम्रपाली ने कहा—तब तो स्वान्तःसुख स्वार्थ का ही उपभोग है।

उदयन ने कहा—स्वान्तःसुख स्वार्थ नहीं है देवि ! यह मनुष्य की वह आत्मानुभूति है जो दूसरों में भी अन्तश्चेतना जगा देती है, द्वैत को अद्वैत कर देती है। अन्ततः प्राणी अपने-आप में तो एक ही है, इसी लिए सबकी स्वानुभूति ही विश्वानुभूति हो जाती है। देखो, यदि मैं अपनी वीणा एकान्त में बजाता और तुम अपना नृत्य भी एकान्त में करतीं तो उससे भी वही स्वान्तःसुख मिलता जो वीणा और नृत्य के एकत्र हो जाने पर मिला। यह संयोग सुलभ न होने पर क्या स्वान्तः-सुख स्वार्थ मात्र रह जाता ?

आम्रपाली इस गूढ़ मन्तव्य को पूर्णतः समझ नहीं सकी, उसके

कानों में केवल दो शब्द गूँज उठे—संयोग और माध्यम। उसने उत्कण्ठित होकर पूछना चाहा—संयोग क्या है ? उसका माध्यम क्या शरीर भी हो सकता है ? किन्तु नारी की स्वाभाविक लज्जा से वह सकुचा गयी। प्रकृतिस्थ होकर उसने कहा—देव, मैं अब भी आपसे अनभिज्ञ हूँ। कृपया अपना स्पष्ट परिचय देकर कृतार्थ करें।

उदयन ने सजग होकर कहा—दिव्ये, अब अपना और परिचय क्या दूँ ?

आम्रपाली ने कहा—परिचय का माध्यम मनुष्य का नाम-धाम भी तो हो सकता है। कला के साथ ही मैं उसे भी स्मृति का सम्बल बना लेना चाहती हूँ।

उदयन ने हँस कर कहा—देवि, मेरा नाम-धाम अज्ञात ही रहने दो। कुछ विस्मृति, कुछ अतृप्ति में ही कला की जीवनशक्ति है। यदि सम्भव हुआ तो हम कभी फिर मिलेंगे, तब तुम्हारे शेष प्रश्न का भी उत्तर मिल जायगा।

आम्रपाली सोचने लगी—समय की हिलकोरों से हिलग कर हम दो तिनके एक तट पर आ मिले थे, इस अपार संसार में अब न जाने कौन कहाँ बह जायगा। क्या सचमुच कभी फिर मिलन होगा !.........

उसे उदास देखकर उदयन ने अपने हृदय से लगा लिया। दुलार से उसका चिबुक स्पर्श कर कहा—प्रिये ! कला मुझे यहाँ खींच लायी थी, किन्त कर्त्तव्य मुझे जाने के लिए विवश कर रहा है। किसी विशेष कारण से नाम-धाम नहीं बता सका, किन्तु जीवन के कोलाहल में सङ्गीत की तरह तुम्हारा ध्यान बना रहेगा, जब कभी अवकाश मिलेगा मैं स्वर के पङ्खों पर उड़कर पास आ जाऊँगा।

आम्रपाली ने प्रणत होकर कहा—मैं अहर्निश प्रतीक्षा करती रहूँगी देव !.........

आशा-आश्वासन और आशीर्वाद देकर उदयन सन्ध्या के धुंधलके में विदा हो गया, आम्रपाली एक टक पथ की ओर देखती रही। वह जब ओझल हो गया तब पथिक के साथ उसका हृदय भी अन्धकार में

खो गया। दासी ने आकर कलाकक्ष में दीपक जला दिया, उसके आलोक में आम्रपाली को अपने विरल अस्तित्त्व का भास हुआ—अरे, क्या वह इसी तरह चिरएकाकिनी और चिरविरहिणी बनी रहेगी !

●

ऐश्वर्य्य के स्वर्ण शिखर पर बैठी हुई आम्रपाली नीचे पृथ्वी की ओर देख कर अपने जीवन का सिंहावलोकन करने लगी। उसे अपने जन्म की कहानी याद आ गयी। एक दिन इसी पृथ्वी की धूल में वह पड़ी हुई मिली थी, आज इतनी ऊँचाई पर पहुँच कर भी प्रासादवासिनी अनाथिनी है। उसी की तरह आज भी न जाने कितने अनाथ शिशु परित्यक्त होकर पृथ्वी पर कलप रहे होंगे। कौन उन्हें दुलार कर उनके आँसुओं को पोंछ देता होगा !

वह परित्यक्तों, अनाथों, दीन-दुखियों की सुध-बुध लेने के लिए आतुर हो उठी। अपने जीवन को रिक्त कर उसने जो ऐश्वर्य्य पाया था उससे कितनों के रिक्त जीवन को भर देने के लिए सेवा के पथ पर चल पड़ी।

जिसकी एक झलक मात्र लोगों के लिए दुर्लभ थी वह अब यत्र-तत्र-सर्वत्र दिखाई देने लगी। वैभव के विलासी उसे देख कर अपनी लिप्सा पर लज्जित हो उठते, जनता उसे देख कर अपनी श्रद्धा का उद्घोष करती—देवी आम्रपाली की जय !

जब वह सार्वजनिक शिशु-सदन में पहुँचती तब छोटे-छोटे बच्चे दौड़ कर उसके चरणों से लिपट जाते, कन्धों पर बैठ कर किलकिला उठते। खड़े होने में असमर्थ बच्चे ललक कर हाथ उठा देते, वह उन्हें गोद में लेकर हँसाने-खेलाने लगती। पालने में आत्ममग्न बालखिल्यो वीचियों की तरह विस्मित और पुलकित होकर जब अपने हाथ-पाँव हवा में उछालने लगते तब आम्रपाली उन्हें भर आँख देखती रह जाती। जी भर लेने के लिए किसी-किसी बच्चे को पालने से उठा कर अपने सुकुमार हाथों में कोमल हृदय की तरह झुलाने लगती। उसके चन्द्रमुख को अपनी हथेलियों में लेने के लिए शिशु जब उमँग पड़ता तब उसके अटपटे हाथों से आम्रपाली के वक्षस्थल का अञ्चल खिसक जाता। वह

चाहती, इसे दूध पिला दूँ, किन्तु उसके पयोधरों से मातृत्त्व निःसृत नहीं हो पाता। निष्फल वात्सल्य से वह अवसन्न हो जाती।

जिसके शृङ्गार रस का स्रोत अवरुद्ध है उसकी करुणा का स्रोत भी कैसे प्रवाहित हो सकता है ! रस के अवरोध से आम्रपाली अपने ही भीतर उफन पड़ी। कुण्ठा से उसका जीवन अशान्त हो गया। बाहर वैशाली के जीवन में भी तूफान आ गया। मगध ने उस पर आक्रमण कर दिया।

आम्रपाली अपने अशान्त जीवन को सेवा से शान्त करने के प्रयत्न में लगी रही। एक दिन सँझबाती के समय जब वह लौट रही थी तब मगध के कुछ मद्यप सैनिकों ने उसके रथ को घेर लिया। वह आर्त्तनाद कर उठी। रमणी के रमणीय कण्ठ के उत्पीड़ित स्वर से द्रवित होकर एक वीरपुरुष सामने आ गया। उसने सैनिकों की उद्दण्डता का विरोध किया। वे दुष्ट उसे गाली देने लगे। आगन्तुक पुरुष क्रुद्ध हो उठा। खड्ग हाथ में लेकर उन पर टूट पड़ा। सैनिक भाग खड़े हुए। उन मतवालों को क्या पता, यह उन्हीं का सम्राट विम्बसार था। छद्मवेश में नगर-प्रदक्षिणा कर रहा था।

आम्रपाली जब सकुशल नगर के द्वार पर पहुँच गयी तब उसने अनुगृहीत होकर विम्बसार से कहा—वीरशिरोमणि, आप चाहे जो कोई भी हों, आपका उपकार कभी नहीं भूलूँगी, अपनी कृतज्ञता में आपको सदैव स्मरण करती रहूँगी।

विम्बसार आम्रपाली को भली भाँति देख नहीं सका था। अब उजाले में उसके विनम्र मुख की करुण-मधुर सुषमा देख कर मुग्ध हो गया। अपने-आपको संयत कर उसने कहा—भद्रे, उपकार की क्या बात है, मैंने तो केवल अपने कर्त्तव्य का पालन किया।

उसके शौर्य्य और सौहार्द से अभिभूत होकर आम्रपाली ने आँखों में उसे सँजो लेने के लिए अपनी दृष्टि ऊपर उठायी, विम्बसार कृत-कृत्य हो गया। अपनी तन्मयता और वातावरण की अनुपयुक्तता में

दोनों एक-दूसरे का नाम-धाम नहीं पूछ सके। आम्रपाली सादर अभिवादन कर चली गयी।.........

युद्ध में पराजित होकर बिम्बसार मगध लौट गया। उसे पराजय का खेद नहीं हुआ, क्योंकि इस अभियान में वैशाली की शची के दर्शनों का सुयोग पा गया था। आम्रपाली के शील और सौन्दर्य्य की स्मृति से राजनीति की शुष्कता में भी उसका क्षण-क्षण मसृण हो गया था। अहर्निश सोचता रहता—वह कौन थी, किस गृह की शोभा थी।......

गुप्तचरों ने नाम-धाम का पता लगाकर जब उसे सूचित किया तब बिम्बसार आम्रपाली को अपनी राजमहिषी बनाने के लिए लालायित हो उठा। अभी वह तथागत के पूर्ण सम्पर्क में नहीं आया था, अतएव उसमें रूप-राग बना हुआ था। उसने फिर वैशाली पर धावा बोल दिया। इस बार उसने आक्रमण नहीं किया, केवल नगर को घेर लिया।

......बिम्बसार का परिचय और प्रणय-सन्देश पाकर आम्रपाली दुबिधा में पड़ गयी—एक ओर उसका उपकारी था, दूसरी ओर उसकी जननी जन्मभूमि वैशाली थी। जिस वैशाली की रक्षा के लिए उसने कौमार्य्य स्वीकार किया उस वैशाली को वह कैसे त्याग दे!

उसने अपनी विश्वासपात्री धात्री से कहा—हला, तुम अनुभवी हो, मुझे मेरे कर्त्तव्य से अवगत करो।

धात्री ने कहा—तुम सम्राट से कह दो कि उपकार का प्रतिदान विलास नहीं हो सकता। वीरपुरुष को नारी की असमर्थता से अनुचित लाभ नहीं उठाना चाहिये।

आम्रपाली के उत्तर से बिम्बसार के हृदय पर आघात पहुँचा—वह मुझे इतना क्षुद्र समझती है! उसने कहलाया—मैं प्रतिदान नहीं चाहता, एक उपासक की तरह देवी के व्यक्तित्त्व की प्रतिष्ठा करता हूँ। उनके सम्मान के लिए साम्राज्य भी छोड़ सकता हूँ।

आम्रपाली सोच में पड़ गयी—वैशाली के तरुण भी सर्वस्व न्यौछावर कर उसे अपना बनाना चाहते थे, किन्तु उसे साथी चुनने का अधिकार कहाँ है! उसकी आँखों के सामने मदन और उदयन घूम गये।

उसने धात्री से कहा—हला, मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ, वही कर सकती हूँ जिससे वैशाली का भला हो। सम्राट को मेरी स्थिति सूचित कर दो।

धात्री ने कहा—सम्राट का प्रणय-निवेदन स्वीकार कर लेने से वैशाली का भला ही होगा।

आम्रपाली ने चकित होकर पूछा—यह कैसे ?

धात्री ने कहा—सम्राट के सौजन्य से वैशाली और मगध की शत्रुता समाप्त हो जायगी, दोनों संयुक्त राष्ट्र हो जायँगे।

आम्रपाली ने कहा—किन्तु हला, हम दोनों का सम्बन्ध कैसे हो सकता है, मैं गणिका नहीं बन सकती।

धात्री ने कहा—तुम विवाह कर सकती हो।

आम्रपाली चौंक उठी। उसने अप्रतिभ होकर कहा—हला, अब तुम भी परिहास करने लगी हो !

धात्री ने कहा—यह परिहास नहीं, सच है देवि !

आम्रपाली ने कहा—यदि यह सम्भव होता तो क्या अब तक मैं अकेली रह जाती !

धात्री ने कहा—देवी का गान्धर्व-विवाह हो सकता है।

आम्रपाली ने कहा–तो तुम जैसा उचित समझो वैसा सौभाग्य रचो।

धात्री ने विम्बसार को सन्देश दिया—सम्राट दीर्घायु हों, आप भी बने रहें, आपका राजपाट भी बना रहे। वैशाली के भले के लिए देवी आपसे गन्धर्व-विवाह कर सकती हैं। उन्हें आपका ऐश्वर्य्य नहीं, विश्वास चाहिये।

विम्बसार ने कहलाया—देवी का पाणिग्रहण करते समय मैं जो सौगन्ध लूँगा वही मेरे विश्वास का साक्षी होगा।

आम्रपाली आश्वस्त हो गयी। उसका पाणिग्रहण करते हुए विम्बसार ने कहा—देवी की पदमर्य्यादा राजमहिषी से भी श्रेष्ठ है। सब कुछ देकर भी मैं इन्हें कुछ भी नहीं दे सकता। साम्राज्य के रहते हुए भी मेरा जो हृदय रिक्त है मैं उसी में इन्हें अन्तरात्मा की तरह अभिषिक्त करता हूँ। तुच्छ साम्राज्य पादार्घ्य बना रहेगा।

भक्त की स्तुति से किसी देवी की तरह ही प्रसन्न होकर आम्रपाली विम्बसार की भार्य्या हो गयी ।

……मधुर यामिनी में जब दोनों का सम्मिलन हुआ तब वह एक अभूतपूर्व अनुभव से सिहर उठी । उसका सर्वाङ्ग शिथिल हो गया । उन्माद शन्त हो जाने पर हतप्रभ होकर आम्रपाली अनुताप करने लगी—अरे, क्या यही वह उद्वेग था जो मनोरथ बन कर उसे उन्मथित कर रहा था !

विम्बसार एक सप्ताह के बाद ससैन्य मगध लौट गया। वैशाली के महत्त्वकांक्षी युवकों ने सोचा—वह पराजय के भय से भाग गया । किन्तु उन पुङ्गवों को क्या मालूम कि उनका प्रणय ही पराजित हो गया ।

आम्रपाली और विम्बसार के सम्मिलन के फलस्वरूप ध्रुवनक्षत्र-सा एक दीप्तिमान पुत्र उत्पन्न हुआ । आम्रपाली उसे गोद में लेकर निहाल हो गयी । अपनी पहेली सुलझाते हुए वह सोचने लगी—अरे क्या इसी से मैं पूछ रही थी : 'को तुहूँ, बोलबि मोय ?' यही क्या उसके प्रश्न का उत्तर है, यही क्या उसके हृदय में हूक रहा था ?

अपनी साध पूरी हो जाने पर उसका चित्त स्वस्थ हो गया, किन्तु दुश्चिन्ता ने उसे उद्विग्न कर दिया । वह सोचने लगी—इस सन्तान की भी क्या वही गति होगी जो उसकी हुई थी । उसका मन अपने लाल को, अपने रक्तकुसुम को किसी घूरे पर फेंकने के लिए तैयार नहीं हुआ । धात्री ने परामर्श दिया—इसे शिशु-सदन में रख आओ । कह देना, यह तुम्हें कुण्ड के पास मिला है । मैं इसे अपना पोष्य बना कर फिर यहीं ले आऊँगी । यह दिन-रात तुम्हारी आँखों के सामने रहेगा, लाड़-प्यार से पलता रहेगा ।……

वैशाली के प्रणयनिष्फल युवक आम्रपाली के पुत्र को देख कर जल उठे, प्रवाद फैलाने लगे, किन्तु प्रमाण के अभाव और जनता की श्रद्धा के कारण शान्त हो गये ।

सात वर्ष की आयु हो जाने पर बालक को आम्रपाली ने धात्री

के साथ मगध भेज दिया। बिम्बसार राजसभा में बैठा हुआ था, दोनों के आने का संवाद पाकर वहीं बुलवा लिया। बालक निःशङ्क आगे बढ़ कर उसकी गोद में जा बैठा। सम्राट ने प्यार से उसका माथा चूमा, उसमें अपनी गन्ध पाकर आशीर्वाद दिया—आयुष्मान विजयी हो, यशस्वी हो! बालक की निःशङ्कता से प्रभावित हो उसका नाम रख दिया—अभयकुमार। राजकुमार के समान उसका लालन-पालन होने लगा। ज्यों-ज्यों वह वयस्क होता गया, बिम्बसार उसके गुणों पर रीझता गया। अन्य पुत्रों के रहते हुए भी मन ही मन संकल्प कर लिया—इसे ही अपना उत्तराधिकारी बनाऊँगा।

बालक और धात्री को भेज कर आम्रपाली निश्चिन्त हो गयी। अब उसे अपना अकेलापन नहीं अखरता। उसका हृदय प्रवहमान हो गया था, उसके मातृत्त्व का स्रोत नये पौधों को सींचने के लिए निःसृत होने लगा। अब वह अपने शिशु-सदन की धर्म्ममाता थी।

बिम्बसार उसे मगध बुला कर राजमाता के पद पर प्रतिष्ठित करना चाहता था, किन्तु गृह-प्रपञ्च के कारण अवसर नहीं पा सका। पुत्र के जन्मदिवस पर जब वह उपहार भेजती तब मगध से प्रत्युपहार आने पर दोनों ओर के कुशल का संवाद-सूत्र जुड़ जाता।

एक दिन अभय की इक्कीसवीं वर्षगाँठ पर उपहार भेज कर आम्रपाली कुशल समाचार की प्रतीक्षा कर रही थी। मगध के दूत ने आकर सुसम्वाद दिया—बधाई देवि, आपको पौत्रलाभ हुआ है।

आम्रपाली इस शुभ सम्वाद से किसी गृहिणी की तरह ही गद्गद हो गयी। अपने पौत्र का मुख देखने के लिए वह उत्सुक हो उठी, किन्तु देश-काल के व्यवधान में वैशाली की सीमा पार नहीं कर सकी।

बारह वर्ष की आयु में आम्रपाली का पौत्र जीवक आयुर्वेद के अध्ययन के लिए तक्षशिला चला गया। वहाँ से सुशिक्षित होकर लौटने पर उसे बिम्बसार ने अपना और तथागत के भिक्षुसंघ का चिकित्सक नियुक्त कर दिया। तथागत के प्रभाव से जीवक उनका शिष्य हो गया।

तेईस वर्ष की आयु में वह युवक भिक्षुवैद्य किसी कार्य्यवश

वैशाली आया। उस समय आम्रपाली के शिशु-सदन के कुछ बच्चे रुग्ण थे। उसने उनके उपचार के लिए जीवक को आमन्त्रित किया। जब वह सामने आया तब आम्रपाली उसे देख कर विस्मित हो गयी। भिक्षुवेश में भी उसकी मुखाकृति से उसे पहिचान गयी, उसमें अपने पुत्र अभय का प्रतिविम्ब पा गयी। साक्षात् हो जाने पर भी सामाजिक मर्य्यादा की दृष्टि से अपना परिचय नहीं दे सकी। जीवक जब चला गया तब उसका पीत चीवर आम्रपाली की सजल आँखों में प्रतिच्छायित हो उठा। उसके हृदय में एक अस्पष्ट अतीन्द्रिय प्रकाश झलमलाने लगा। सभी रागों के ऊपर उस वीतराग का मुख चेतना के नवोदय-सा जान पड़ा।

नौ वर्ष बाद मगध में उत्तराधिकार के लिए द्वन्द्व होने लगा। अजातशत्रु अपने वृद्ध पिता विम्बसार को कारागार में बन्द कर सिंहासन पर बैठ गया। मगध में शान्ति बनाये रखने के लिए सम्राट का मनोनीत उत्तराधिकारी अभयकुमार राजगृह से चला गया, तथागत का शिष्य हो गया।

भिक्षाटन करते हुए जब वह वैशाली आया तब आम्रपाली का उससे साक्षात् हुआ। उसे देख कर आम्रपाली को हर्ष भी हुआ और संसार की निस्सारता का बोध भी हुआ। अपने जीवन पर उसने एक बार फिर दृष्टिपात किया—वह उसे चिरअभिशप्त जान पड़ा। जीवक के मुख पर उसे जिस प्रकाश का अस्पष्ट आभास मिला था, उस प्रकाश का स्पष्टीकरण अभय के मुख से हो गया। निर्लिप्त निर्विकल्प चित्त का प्रसाद (शान्त भाव) ही वह अन्तस् का उजास अतीन्द्रिय प्रकाश था।

आम्रपाली का शिशु सदन उसका सामाजिक परिवार था। अब वह तथागत के उस आध्यात्मिक परिवार (भिक्षुसंघ) में सम्मिलित होने के लिए कृतसंकल्प हो गयी जिसमें सभी सांसारिक सीमाओं का विलय हो जाता है। उसने अभय से अनुरोध किया—मुझे भी अपनी उपसम्पदा दो, प्रव्रज्या दो आयुष्मान्!

अभय ने कहा—स्वयं भगवान ही वैशाली पधार रहे हैं, उन्हीं का अनुग्रह प्राप्त कर लेना।

आम्रपाली तथागत की अपलक प्रतीक्षा करने लगी। वैशाली आकर जब वे उसके उपवन में ठहर गये तब वह उनकी सेवा में उपस्थित हुई। उसने देखा—उनके ज्योतिर्म्मय मुखमण्डल से प्रकाश की अगणित रश्मियाँ विकीर्ण होकर पृथ्वी के कण-कण को विराज बना रही हैं।

उनके चरणों में प्रणत होकर वह कातर कण्ठ से पुकार उठी—मुझे भी अपनी शरण में लो प्रभु!

काशी,
शुक्रवार, १२।९।५८

[१६]

प्रस्थान

वैशाली से विदा होकर तथागत ने जब पीछे की ओर घूम कर देखा तब उनका हृदय उच्छ्वसित हो उठा—"हे वैशाली ! अपने जीवन के शेष भाग में तुम्हें फिर न देखूँगा, क्योंकि मैं निर्वाण की ओर जा रहा हूँ।"

जो सबके अन्तर्य्यामी थे वे अपनी शेष आयु से भी अवगत हो चुके थे। उन्होंने आनन्द से कहा—रमणीय है वैशाली। रमणीय है उदयन चैत्य, गोतमक चैत्य, सत्तम्बक (सप्त आम्रक) चैत्य, बहुपुत्रक चैत्य, सारदन्द चैत्य। रमणीय है चापाल चैत्य। रमणीय है राजगृह में गृध्रकूट, कपिलवस्तु में न्यग्रोधाराम, चोर प्रपात, वैभारगिरि की बगल में कालशिला, सीतवन में सर्प-शौंडिक पहाड़। रमणीय है तपोदपाराम, वेणुवन कलन्दक-निवाप, जीवकम्ब वन, मद्रकुक्षि मृगदाव।

वीतराग तथागत को इस तरह स्मृति-विह्वल होते देख कर आनन्द की आँखें डबडबा आयीं। तथागत ने सान्त्वना दी—मत विचलित हो तात, संसार तो छूटने के लिए ही है, वियोग निश्चित है, काल की सीमित अवधि में जो अखण्ड अन्तर्योग सध जाय उसे ही चिरमिलन का सम्बल बना लेना चाहिये। आओ, अब कुशीनारा की ओर चलें।

जिन्हें अपने देहावास (शरीर) का मोह नहीं था वे तथागत अपने अरण्यआवासों को स्मरण कर अभिभूत हो गये। फिर यह सोच कर कि सभी आवास उनकी चेतना के प्रवास हैं, वे अपने में ही समाहित होकर महापरिनिर्वाण के पथ पर चल पड़े। उन्होंने भिक्षुओं को संदेश दिया था—

वनं छिन्दथ मा रुक्खं
वनतो जायती भयं ।
छेत्वा वनञ्च वनथञ्च
निब्बना होथ भिक्खवो ॥

(भिक्षुओ! वन को काटो, वृक्षों को मत। वन से भय उत्पन्न होता है। वन और झाड़ को काट कर भयरहित हो जाओ।)

वन और झाड़ (मन और मनोविकार) से रहित अरण्य साधकों के निभृत अन्तर्जगत का ही प्रतिष्ठान था।

संसार में रह कर भी तथागत जैसे निर्लिप्त थे वैसे ही समूह में रह कर भी निःसङ्ग थे। उनकी चारिका सबके साथ भी थी और सबसे स्वतन्त्र भी थी। उन्होंने भिक्षुओं को उद्बोधित किया था—

सचे लभेथ निपकं सहायं
सद्धिं चरं साधुविहारिधीरम् ।
अभिभुय्य सब्बानि परिस्सयानि
चरेय्य तेनत्तमनो सतीमा ॥

(यदि साथ विचरण करने वाला अनुकूल पण्डित मित्र मिल जाय तो सभी विघ्नों को दूर कर उसके साथ स्मृतिमान और प्रसन्न होकर विहार करे।)

नो चे लभेथ निपकं सहायं
सद्धिं चरं साधुविहारिधीरम्।
राजाव रट्ठं विजितं पहाय
एको चरे मातङ्गरञ्जेव नागो ॥

(यदि साथ विचरण करने वाला अनुकूल पण्डित मित्र न मिले तो राजा की भाँति पराजित राष्ट्र को छोड़ हस्तिराज के समान अकेला विचरण करे।)—

'यदि तोरे डाक शुने केउ ना आसे तबे एकला चलो रे
एकला चलो, एकला चलो, एकला चलो रे !'

काशी,
२१।९।५८